प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, इंदौर	५०१
२.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	५०१
३.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१
४.	श्रीमती सुधाबेन एम. पाटील, अहमदाबाद	५०१
५.	डॉ. केतनभाई शाह, अहमदाबाद	५०१
६.	श्री भरतभाई ए. अमृतलालजी शाह, अहमदाबाद	५०१
७.	श्रीमती शशिप्रभा जैन ध.प. स्व. श्री राजकुमारजी जैन की पुण्य स्मृति में, तिनसुकिया	५०१
८.	श्रीमती अंजनाबेन महेशभाई पटेल, अहमदाबाद	५००
९.	श्री कल्पेशभाई भोगीलाल शाह, अहमदाबाद	५००
१०.	मेहता शैलेषकुमार भोगीलालजी शाह, अहमदाबाद	५००
११.	श्री शैलेषभाई शाह, अहमदाबाद	५००
१२.	श्री भरतभाई एम. शाह, अहमदाबाद	५००
१३.	श्री विपिनभाई, अहमदाबाद	५००
१४.	श्री जयन्तीलाल निहालचन्द शाह, अहमदाबाद	५००
१५.	श्री एच. एम. जैन, इलाहाबाद	२५१
१६.	श्री मांगीलालजी अर्जुनलालजी छाबड़ा, इंदौर	२५१
१७.	श्री मोलड़मल शोसिंहराय जैन एण्ड कंपनी, अग्रवालमण्डी	२५१
१८.	श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	२५१
१९.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१
२०.	स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्रश्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१
२१.	श्रीमती मैनादेवी ध.प. पण्डित सिद्धार्थकुमारजी दोशी,रतलाम	२५१
२२.	श्रीमती विमलादेवी ध.प.श्री सुमेरमलजी पहाड़िया,तिनसुकिया	२५१
२३.	स्व.श्रीमती सीमा काला ध.प. श्री राजेशकुमारजी काला, इंदौर की स्मृति में	२०१
२४.	स्व.श्रीमती धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचंदजी गंगवाल की पुण्य स्मृति में, जयपुर	१५१
२५.	श्रीमती ममता जैन ध.प. श्री अजितकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	१५१
२६.	स्व. श्री नेमीचन्दजी पहाड़िया की पुण्य स्मृति में, गोहाटी	१५१
२७.	श्री भागचन्दजी कोठ्यारी, जयपुर	१५१
२८.	श्रीमती भावना जैन ध.प. श्री सुनीलकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा	१५१
२९.	स्व. श्रीमती शान्तिदेवी ध.प. माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	१०१
३०.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१
३१.	श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर	१०१
३२.	श्रीमती सोहनदेवी ध.प. स्व. तनसुखलालजी पाटनी, जयपुर	१०१
	कुल राशि	**१०३३५**

गुणस्थान विवेचन

(धवला सहित)

लेखक :

ब्र. यशपाल जैन

एम.ए., जयपुर

सम्पादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य श्री टोडरमल दिग. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा

जिला-बेलगाँव (कर्नाटक) ५९१३०६

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८,

फैक्स : २७०४१२७, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

●प्रथम आठ संस्करण : २३ हजार ५००
नवम संस्करण : २ हजार
(२९ अप्रैल, २००६)
पूज्य कानजी स्वामी जयन्ती योग : २५ हजार ५००

मूल्य : **२५ रुपये**

टाइप सैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

● गुणस्थान प्रवेशिका के पाँच संस्करण समाहित।

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
● प्रकाशकीय आदि	१-८
अध्याय पहला	**९-२९**
● सामान्य प्रकरण	९-१४
● प्रथमानुयोग का पक्षपाती	१५-१६
● चरणानुयोग का पक्षपाती	१६-१९
● द्रव्यानुयोग का पक्षपाती	२०-२२
● शब्दशास्त्र,अर्थ,कामभोग व अन्यमत का पक्षपाती	२३-२७
● शास्त्राभ्यास की महिमा	२८-२९
अध्याय दूसरा	**३०-५१**
● महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	३०-५१
अध्याय तीसरा	**५२-२८०**
● गुणस्थान-भूमिका	५२-५५
● गुणस्थान-परिभाषा	५६-५९
● गुणस्थान-विभाजन	५९-६९
१. मिथ्यात्व	७०-८५
२. सासादनसम्यक्त्व	८७-९७
३. सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र)	९८-१०६
४. अविरतसम्यक्त्व	१०७-१२७
५. देशविरत	१२८-१३९
६. प्रमत्तविरत	१४०-१६१
७. अप्रमत्तविरत	१६२-१७५
८. अपूर्वकरण	१७६-१९०
९. अनिवृत्तिकरण	१९१-२००
१०. सूक्ष्मसाम्पराय	२०१-२१२
११. उपशांतमोह	२१३-२२४
१२. क्षीणमोह	२२५-२३४
१३. सयोगकेवली	२३५-२४६
१४. अयोगकेवली	२४७-२५३
● सिद्ध भगवान	२५४-२६०
● परिशिष्ट	२६२-२८०

प्रकाशकीय

(नवम संस्करण)

गुणस्थान-प्रवेशिका का यह संशोधित एवं संवर्धित रूप गुणस्थान-विवेचन के नवम संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जयपुर में आयोजित आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर करणानुयोग का प्रारम्भिक ज्ञान कराने के उद्देश्य से गोम्मटसार के गुणस्थान प्रकरण की कक्षा ब्र. यशपालजी द्वारा ली जाती है। उस कक्षा में बैठनेवाले भाईयों को इस विषय को समझने में जो कठिनाईयाँ आती थीं, उन्हीं को ध्यान में रखते हुए ब्र. यशपालजी ने यह कृति तैयार की है।

ब्र. यशपालजी चारों अनुयोगों के सन्तुलित अध्येता एवं वैराग्य रस से भीगे हृदयवाले आत्मार्थी विद्वान हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन में संचालित होनेवाली प्रत्येक गतिविधि में आपका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध पर आप प्रवचनार्थ बाहर भी जाते रहते हैं। आपने पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित टीका सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका का सम्पादन कार्य अत्यन्त श्रम एवं एकाग्रता पूर्वक किया है तथा सम्पादन कार्य से प्राप्त अनुभव का भरपूर उपयोग प्रस्तुत कृति की रचना में किया है। करणानुयोग संबंधी इस महत्त्वपूर्ण एवं सरलतम कृति के लिए ट्रस्ट आपका हृदय से आभारी है।

गुणस्थान-प्रवेशिका को संशोधित करके जब विस्तृत रूप प्रदान किया गया, तब इसके सम्पादन की आवश्यकता महसूस हुई। इसके लिए पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल से निवेदन किया एवं उन्होंने अपने लेखनादि कार्यों की व्यस्तताओं में से समय निकालकर इसे सम्पादित कर सुव्यवस्थित किया है; एतदर्थ ट्रस्ट उनका हार्दिक आभारी है।

इस पुस्तक की लेजर टाइप सैटिंग श्री श्रुतेश सातपुते शास्त्री डोणगाँव द्वारा की गई है तथा प्रकाशन व्यवस्था का सम्पूर्ण दायित्व अखिल बंसल ने बखूबी निभाया है। अत: ये दोनों महानुभाव बधाई के पात्र हैं। इस कृति के माध्यम से आप सभी अपने परिणामों को पहिचानकर आत्मकल्याण करें, इसी मंगल भावना के साथ -

सौ. इन्दुमति अण्णासाहेब खेमलापुरे
अध्यक्षा
पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल
महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

अध्यात्मगर्भित आगम के अभ्यास में रुचि रखनेवाले श्रीयुत ब्र. यशपालजी जैन विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग के विषय, गुणस्थान का सामान्य ज्ञान कराने के लिए शिक्षण शिविरों में प्रौढ कक्षायें लेते रहे हैं। ज्यों-ज्यों आपकी यह कक्षा लोकप्रिय होती गई, त्यों-त्यों आपका उत्साह बढ़ता गया। फलस्वरूप आपने एक ६४ पृष्ठीय पुस्तक भी *गुणस्थान-प्रवेशिका* नाम से लिखकर प्रकाशित करा ली।

आगम के अध्ययन अध्यापन से विषय का परिमार्जन तो होना ही था। गुणस्थानों की कक्षा लेने से गुणस्थानों से सम्बन्धित विषय-वस्तु और भी विस्तृत रूप में संकलित होती रही, अत: आपने ४ वर्ष बाद पुन: यह निर्णय लिया कि क्यों न इसी गुणस्थान प्रवेशिका को बृहद् रूप दे दिया जाय।

अपने लिये गये निर्णय के अनुसार ब्रह्मचारीजी ने संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप देने का काम प्रारम्भ कर दिया और इसके सम्पादन के लिये मुझ से कहा। एक वर्ष के अन्दर ही इस लघु पुस्तिका की लगभग २५० पृष्ठीय पाण्डुलिपि तैयार कर मुझसे पुन: सम्पादन के लिए आग्रह किया।

यद्यपि अपने लेखन, अध्ययन-अध्यापन आदि के कारण मेरे पास प्राय: समयाभाव रहता है, फिर भी धर्मस्नेहवश तथा यह सोचकर कि "इस निमित्त से अपने गुणस्थान सम्बन्धी ज्ञान का परिमार्जन हो जायेगा।" मैंने उनका आग्रह सहज स्वीकार कर लिया।

ब्रह्मचारी यशपालजी जैन मूलत: कन्नड भाषी हैं और आपकी शिक्षा मराठी माध्यम से हुई, इस कारण कन्नड व मराठी भाषा पर तो आपका विशेष अधिकार है; परन्तु हिन्दी भाषा पर वैसा अधिकार नहीं है, जैसा हिन्दी लेखन के लिए अपेक्षित होता है, इस कारण भाषा सम्बनधी कमजोरी तो थी ही।

विस्तार से पढ़ाने की आदत और अभ्यास होने से प्रश्न भी बड़े और उनके उत्तर भी टेड़े-मेड़े थे, कुछ पुनरावृत्तियाँ भी थी। विषयवस्तु अत्यन्त उपयोगी होने पर भी उसका प्रस्तुतीकरण कमजोर था। मैंने ब्रह्मचारीजी की सहमति से ही उनके मूलभाव को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए विषयवस्तु एवं भाषा में संशोधन एवं परिमार्जन करके सुगठित एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है।

प्रसन्नता की बात यह रही कि मैंने जो भी संशोधन किया, सुझाव दिये, उन्हें ब्रह्मचारीजी ने बड़ी सहजता से स्वीकार किया और बारम्बार हार्दिक प्रसन्नता प्रगट की। मुझे इसका सूक्ष्मता से अध्ययन करने से बहुत लाभ हुआ। सब कुछ मिलाकर वस्तुत: यह गुणस्थान-विवेचन बहुत ही ज्ञानवर्द्धक बन गया है। आगम व अध्यात्म के महल में प्रविष्ट होने के लिए यह बृहदाकार पुस्तक प्रवेशद्वार सिद्ध होगा। कृति के पढ़ने से ज्ञात होता है कि लेखक ने इस कृति को लिखने एवं विषय-वस्तु के संकलन में अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। एतदर्थ लेखक को जितना धन्यवाद दिया जाये, कम ही होगा। मैं कामना करता हूँ कि लेखक का श्रम सार्थक हो।

– सम्पादक : (पण्डित) रतनचन्द भारिल्ल

आत्मनिवेदन

विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग के महत्त्वपूर्ण विषय गुणस्थान सम्बन्धी कक्षा लेने का सौभाग्य मुझे विभिन्न शिक्षण शिविरों के अवसर पर मिलता रहा है। प्रारम्भ में तो मात्र श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगंबर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुंबई द्वारा जयपुर में आयोजित शिविरों में ही यह कक्षा चलती थी; लेकिन पाठकों की बढ़ती हुई जिज्ञासा को देखते हुए अब प्रत्येक शिविर की यह एक अनिवार्य कक्षा बन चुकी है। इसीतरह मैं जहाँ भी प्रवचनार्थ जाता हूँ, वहाँ भी गुणस्थान प्रकरण को समझाने का आग्रह होने लगता है। समाज की इसप्रकार की विशेष जिज्ञासा ने ही मुझे इस विषय के और अधिक अध्ययन हेतु प्रेरित किया।

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में शास्त्री प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत गुणस्थान प्रकरण के अध्यापन के निमित्त से भी मेरा इस विषय का चिन्तन-मनन बढ़ता गया। इसी का फल यह 'गुणस्थान-विवचेन' है।

गुणस्थान-विवेचन के माध्यम से गुणस्थान की कक्षा लेने का/समझाने का रस कुछ और ही है। अब मैं पाठकों को "इतने पेज पढ़कर आओगे तो विषय सुलभता से समझ में आयेगा" – ऐसा कहता हूँ। विशेषकर पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के विद्यार्थियों को पढ़ाने में, उन्हें गुणस्थान विषय की तैयारी करने में विशेष अनुकूलता हो गयी है। अब विद्यार्थी गुणस्थान की भूमिकारूप प्रश्नोत्तर तो याद करते ही हैं, साथ ही साथ गुणस्थान-विवेचन अध्याय का समझा हुआ विषय (प्रत्येक गुणस्थान का) अपने शब्दों में आत्मविश्वासपूर्वक सुनाते हैं। इसतरह गुणस्थान-विवेचन के कारण गुणस्थान संबंधी विषय समझना एवं समझाना अब और भी सुलभ हो गया है।

मैंने यह गुणस्थान-विवेचन करणानुयोग की विशेष जानकारी रखनेवालों में से ब्र. हीराबेन इन्दौर, ब्र. विमलाबेन जबलपुर, पं. राजमलजी जैन भोपाल, पं. किशनचंदजी अलवर, पं. पी. एल. वैद्य मलकापुर, पं. मनोहरराव मारवडकर नागपुर आदि विद्वानों को आद्योपान्त दिखाया और उनके महत्त्वपूर्ण सुझावानुसार संशोधन भी कर लिया है; अत: मैं इन सबका आभारी हूँ। पं. राजमलजी ने तो समग्र पुस्तक दो-दो बार सूक्ष्मता से पढ़ी है और सुझाव भी दिये हैं।

इस पुस्तक को तीन अध्यायों में विभाजित किया है – (१) पीठिका, (२) प्रश्नोत्तर एवं (३) गुणस्थान। सर्वप्रथम पीठिका में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी विरचित सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका की पीठिका को पुर्नसम्पादित करके प्रश्नोत्तरों के साथ दिया है, जिससे पाठकों को समझने में और सुलभता होगी।

प्रश्नोत्तर विभाग में गुणस्थान प्रकरण को समझने में सहयोगी ऐसे कतिपय आवश्यक प्रश्नोत्तर विशेष संशोधन के साथ और जोड़ दिये गये हैं। चौदह गुणस्थानवाले तीसरे अध्याय में आमूलचूल परिवर्तन करके गुणस्थान-प्रवेशिका में जिनका संकेत मात्र किया था, उन सब बिन्दुओं को जिसप्रकार कक्षा में विस्तार से पढ़ाता हूँ, उसीप्रकार सम्पूर्ण विषय देने का प्रयास किया है। इससे कक्षा में न बैठनेवाले भी यदि स्वयं इसे अकेले में पढ़ेंगे तो भी उन्हें विषय सहज अवगत हो सकेगा।

उपरोक्त तीनों अध्यायों के पश्चात् मोक्षमार्ग हेतु जिन विषयों को समझना अनिवार्य है, ऐसे विषय - जैसे जीव बलवान है, कर्मबन्ध का नियम आदि परिशिष्ट में दिये गये हैं।

इस अष्टम संस्करण में धवलागत गुणस्थान का अंश भी जोड़ दिया है; जिसमें ५० शंका-समाधान गर्भित हैं। इन शंका-समाधानों को अंग्रेजी में (१ से ५० तक) क्रमांक दिये गये हैं। इस संस्करण की भाषा की शुद्धता का श्रेय पं. श्री प्रवीणजी शास्त्री रायपुर को जाता है। अध्यात्मसम्बन्धी मतभेद रहते हुए भी आगरा निवासी करणानुयोग रसिक पं. श्री रतनलालजी बैनाड़ा का सहयोग हम भूल नहीं सकते। इन दोनों विद्वानों का भी हम आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जिज्ञासु इसके माध्यम से अपने परिणामों को पहिचान कर आत्मकल्याण करें - यही मंगल कामना है।

- ब्र. यशपाल जैन

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर

पताशे प्रकाशन संस्था घटप्रभा (बेलगांव -कर्नाटक) के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मराठी

१. आचार्य कुंदकुंददेव
२. णमोकार महामंत्र
३. योगसार
४. परमात्मप्रकाश
५. जिनधर्म-प्रवेशिका
६. जिनेन्द्र-अष्टक
७. योगसार (पॉकेट साईज)
८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा

कन्नड

९. आप कुछ भी कहो
१०. सूक्ति-सुधा
११. शुद्धात्म सौरभ
१२. कौंडेशनिंद कुंदकुंद
१३. जिनधर्म-प्रवेशिका

हिन्दी

१४. गुणस्थान-विवेचन
१५. जिनधर्म-प्रवेशिका
१६. क्षत्रचूडामणि
१७. तत्त्ववेत्ता : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
१८. योगसारप्राभृत-शतक

विशेष

संस्था द्वारा प्रकाशित छहढाला (कन्नड), योगसार (मराठी) के ऑडियो कैसेट भी उपलब्ध हैं।

प्रश्न : जीव द्रव्य की परिभाषा जानने से क्या लाभ होते हैं ?

उत्तर : जीव द्रव्य की परिभाषा जानने से हमें निम्नलिखित लाभ होते हैं -

१. जीव द्रव्य के सूक्ष्म-बादर आदि भेदों का ज्ञान होने से जीवदया की प्रेरणा मिलती है। कहा भी है -

''जीव-जाति जाने बिना दया कहाँ से होय''

२. जीव का चारों गति में दु:खदायी भ्रमण जानने से मनुष्य पर्याय की दुर्लभता समझ में आती है और स्वयमेव ही वैराग्यभाव जागृत होता है।

३. जीवद्रव्य के भेद-प्रभेदों को जानने के कारण जीवादि सब द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाननेवाले केवली भगवान के सूक्ष्म एवं विशाल ज्ञान का बोध होता है एवं सर्वज्ञता के प्रति श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ होती है।

४. जीवद्रव्य को जानने से स्वयमेव ही ''मैं एक स्वतंत्र जीवद्रव्य हँ अन्य जीवद्रव्यों से एंव पुद्‌गलादि द्रव्यों से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है'' - ऐसा भेदज्ञान होता है।

५. जीव को पुद्‌गल द्रव्य से भिन्न जानते ही तत्त्व का सार समझ में आता है। इस सम्बन्ध में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं -

''जीव जुदा पुद्‌गल जुदा, यही तत्त्व का सार।''

६. ज्ञान एवं आनंद की निरन्तर वृद्धि होती है।

७. इस विश्व में जीव द्रव्य अनंत हैं एवं सभी स्वतंत्र हैं; ऐसा जानने के कारण मैं किसी जीव का अच्छा-बुरा नहीं कर सकता और मेरा कोई भी कुछ बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता, ऐसी प्रतीति होती है।

८. इस विश्व में एक लोकव्यापक ब्रह्मा ही चेतन है, अंगुष्ट मात्र आत्मा है, जगत में जीव ही नहीं है आदि मिथ्या मान्यताओं का निराकरण होता है।

९. निजात्मरूप का ज्ञान होने से परकर्तृत्व का भाव टूटता है।

१०. जीव द्रव्य को जानने के कारण जीवतत्त्व से जीवद्रव्य भिन्न है और जीवतत्त्व ही दृष्टि का विषय एवं ध्यान का ध्येय है; ऐसा निर्णय होता है एवं धर्म प्रगट करने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. डॉ. वासन्ती शाह, मुंबई	१०००.००
२. श्रीमती कुसुम जैन ध. प. श्री विमलकुमारजी जैन, नीरु केमिकल्स, दिल्ली	५०१.००
३. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
४. श्री प्रेमचन्दजी जैन हैटवाले, नई दिल्ली	२५१.००
५. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
६. श्री मयूरभाई एम सिंघवी, मुंबई	२५१.००
७. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
८. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाँडनू	२५१.००
९. स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्रश्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
१०. श्रीमती मैनादेवी ध. प. पं. सिद्धार्थकुमारजी दोशी, रतलाम	२५१.००
११. ब्र. कुसुमताई पाटील, कुंभोज	२५१.००
१२. डॉ. अनूपजी जैन, इन्दौर	२५१.००
१३. श्री शान्तिलालजी कासलीवाला, ब्यावर	२५१.००
१४. श्रीमती श्रीकांताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
१५. श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२०१.००
१६. श्रीमती ऊषा सावलकर, नागपुर	२०१.००
१७. श्रीमती लीलाबाई वाकले, नागपुर	२०१.००
१८. श्री मदनलालजी कोठारी, बिनौता	२०१.००
१९. गुप्तदान, हस्ते वैभवकुमार जैन, सत्येन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर	२०१.००
२०. श्री धन्यकुमारजी अजमेरा, इन्दौर	२०१.००
२१. श्रीमती आशा विमलचन्दजी जैन, इन्दौर	२०१.००
२२. श्री लक्ष्मीचन्दजी बंडी, उदयपुर	२००.००
२३. श्रीमती मंजुला हेमन्तजी बडजात्या, इन्दौर	२००.००
२४. श्रीमती सरिता जैन, इन्दौर	२००.००
२५. स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल जयपुर की पुण्यस्मृति में	१५१.००
२६. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१.००
कुल राशि	**: ६९७२.००**

अध्याय पहला

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका-पीठिका

(दोहा)

वन्दौं ज्ञानानन्द-कर, नेमिचन्द गुणकंद।
माधव-वन्दित विमल पद, पुण्य पयोनिधि नंद॥१॥
दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरहंत।
स्वानुभूति-रमनी-रमन, जग-नायक जयवंत॥२॥
सिद्ध शुद्ध साधित सहज, स्वरस सुधारस धार।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होऊ सुखकार॥३॥
जैनी बानी विविध विधि, वरनत विश्व प्रमान।
स्यात्पद मुद्रित अहितहर, करहु सकल कल्यान॥४॥
मैं नमो नगन जैन जन, ज्ञान-ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन॥५॥
इह विधि मंगल करन तैं, सब विधि मंगल होत।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यों भानु उद्योत॥६॥

अब मंगलाचरण करके श्रीमद् गोम्मटसार, जिसका अपर नाम पंचसंग्रह ग्रन्थ, उसकी देशभाषामय टीका करने का उद्यम करता हूँ। यह ग्रन्थ-समुद्र तो ऐसा है, जिसमें सातिशय बुद्धि-बल युक्त जीवों का भी प्रवेश होना दुर्लभ है और मैं मंदबुद्धि (इस ग्रन्थ का) अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ।

यह विचार तो ऐसा हुआ, जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव के सर्व गुणों का वर्णन करना चाहे, किन्तु वह कैसे बने ?

१. प्रश्न : नहीं बनता है तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उत्तर : जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्व गुणों का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है; फिर भी भक्त पुरुष भक्ति के वश होकर अपनी बुद्धि के अनुसार गुण-वर्णन करता है; उसीप्रकार इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अर्थ का प्रकाशन करने की सामर्थ्य न होने पर भी अनुराग के वश मैं अपनी बुद्धि-अनुसार (गुण) अर्थ का प्रकाशन करूँगा।

२. प्रश्न : यदि अनुराग है, तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रन्थाभ्यास करो; किन्तु मंदबुद्धिवालों को तो टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ?

उत्तर : जैसे किसी पाठशाला में बहुत बालक पढ़ते हैं, उनमें कोई बालक विशेष ज्ञान रहित है; फिर भी अन्य बालकों से अधिक पढ़ा है, तो वह अपने से अल्प पढ़नेवाले बालकों को अपने समान ज्ञान होने के लिये कुछ लिख देने आदि के कार्य का अधिकारी होता है। उसीप्रकार मुझे विशेष ज्ञान नहीं है; फिर भी कालदोष से मुझ से भी मंद बुद्धिवाले हैं और होंगे ही, उन्हीं के लिये मुझ समान इस ग्रन्थ का ज्ञान होने के लिये टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ।

३. प्रश्न : यह कार्य करना है - ऐसा तो आपने विचार किया; किन्तु जिसप्रकार छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करने का विचार करे, तो वहाँ पर उस कार्य में गलती होती ही है और वहाँ वह हास्य का स्थान बन जाता है। उसीप्रकार आप भी मंदबुद्धिवाले होकर इस ग्रन्थ की टीका करने का विचार कर रहे हैं, तो गलती होगी ही और वहाँ हास्य का स्थान बन जायेंगे।

उत्तर : यह बात सत्य है कि मैं मंदबुद्धि होने पर भी ऐसे महान् ग्रन्थ की टीका करने का विचार कर रहा हूँ। वहाँ भूल तो हो सकती है; किन्तु सज्जन हास्य नहीं करेंगे।

जिसप्रकार दूसरे बालकों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करे, तब बड़े जन ऐसा विचार करते हैं कि **बालक है भूल करे ही करे; किन्तु अन्य बालकों से भला है,** इसप्रकार विचार कर वे हास्य नहीं करेंगे।

उसीप्रकार मैं यहाँ कहीं भूल जाऊँ तो वहाँ सज्जन पुरुष ऐसा विचार करेंगे कि **वह मंदबुद्धि था, सो भूले ही भूले; किन्तु कितने ही अतिमंदबुद्धिवालों से तो भला ही है** - ऐसा विचार कर हास्य नहीं करेंगे।

४. प्रश्न : सज्जन तो हास्य नहीं करेंगे; किन्तु दुर्जन तो करेंगे ही ?

उत्तर : दुष्ट तो ऐसे ही होते हैं, जिनके हृदय में दूसरों के निर्दोष/भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं; किन्तु उनके भय से जिसमें अपना हित हो, ऐसे कार्य को कौन नहीं करेगा ?

५. प्रश्न : पूर्व ग्रन्थ तो हैं ही, उन्हीं का अभ्यास करने-कराने से ही हित होता है; मंदबुद्धि से ग्रन्थ की टीका करने की महंतता क्यों प्रगट करते हो ?

उत्तर : ग्रन्थ का अभ्यास करने से ग्रन्थ की टीका रचना करने में उपयोग विशेष लग जाता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभास में आता है। अन्य जीवों को ग्रन्थाभ्यास कराने का संयोग होना दुर्लभ है और संयोग होने पर भी किसी जीव को ही अभ्यास होता है। ग्रन्थ की टीका बनने से तो परम्परागत अनेक जीवों को अर्थ का ज्ञान होगा। इसलिये **अपना और अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिये टीका करते हैं;** महंतता का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

६. प्रश्न : यह सत्य है कि इस कार्य में विशेष हित होता है;किन्तु बुद्धि की मंदता से कहीं भूल से अन्यथा अर्थ लिखा जाय, तो वहाँ महापाप की उत्पत्ति होने से अहित भी होगा ?

उत्तर : यथार्थ सर्व पदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान हैं, दूसरों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उनको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभासे; किन्तु जिनदेव का ऐसा उपदेश है -

"कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से व हठ से व क्रोध,

मान, माया, लोभ से व हास्य–भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धा करे व उपदेश दे, तो वह महापापी है तथा विशेष ज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना व अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और वह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसा ही है – ऐसा जानकर कोई सूक्ष्म अर्थ की श्रद्धा करे व उपदेश दे, तो उसको महत् पाप नहीं होता। वही इस गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में भी आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कहा है –

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा।।२७।।

७. प्रश्न : आपने विशेष ज्ञानी से ग्रन्थ का यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारम्भ क्यों नहीं किया ?

उत्तर : कालदोष से केवली–श्रुतकेवली का तो यहाँ अभाव ही है और विशेष ज्ञानी भी विरले ही मिलते हैं। जो कोई हैं, वे तो दूर क्षेत्र में हैं, उनका संयोग दुर्लभ है और आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं। इसलिये जितना हो सका, उतने अर्थ का निर्णय किया; अवशेष जैसे हैं, तैसे प्रमाण हैं।

८. प्रश्न : आपने कहा वह सत्य है; किन्तु इस ग्रन्थ में जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का क्या कुछ उपाय भी है ?

उत्तर : एक उपाय यह करते हैं – ज्ञानी पुरुषों का प्रत्यक्ष तो संयोग नहीं है; इसलिये उनको परोक्ष ही ऐसी विनती करता हूँ कि "मैं मन्दबुद्धि हूँ, विशेष ज्ञान रहित हूँ, अविवेकी हूँ; शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थों का विशेष अभ्यास मुझे नहीं है; अत: मैं शक्तिहीन हूँ; फिर भी धर्मानुराग के वश होकर टीका करने का विचार किया है; उसमें जहाँ–कहीं भूल हो जाय, अन्यथा अर्थ हो जाय, वहाँ मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना। इसप्रकार विनती करके जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का उपाय किया है।

९. प्रश्न : आपने टीका करने का विचार किया, यह तो अच्छा

किया है; किन्तु ऐसे महान् ग्रन्थ की टीका संस्कृत में ही चाहिये, भाषा में तो उसकी गम्भीरता भासित नहीं होगी।

उत्तर : इस ग्रन्थ की 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका तो पूर्व में है ही;किन्तु वहाँ संस्कृत, गणित, आम्नाय आदि के ज्ञान रहित जो मन्दबुद्धि हैं, उनका प्रवेश नहीं होता है। यहाँ काल–दोष से बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि के ज्ञानरहित जीव बहुत हैं, उन्हीं को इस ग्रन्थ के अर्थ का ज्ञान कराने के लिये भाषा टीका करता हूँ। अत: जो जीव संस्कृतादि सहित विशेष ज्ञानवान हैं, वे मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका से अर्थ धारण करें। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानरहित हैं, वे भाषा टीका से अर्थ ग्रहण करें और जो जीव संस्कृतादि ज्ञानसहित हैं; परन्तु गणित–आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते हैं, वे इस भाषा टीका से अर्थ को धारण करके मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका में प्रवेश करें तथा जो भाषा टीका से मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका से अधिक अर्थ हो सके, उसको जानने का अन्य उपाय बने वह करें।

१०. प्रश्न : संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है।

उत्तर : संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा बांचने से तो कोई दोष आते नहीं हैं, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो वैसे ही करना। पूर्व में अर्धमागधी आदि भाषामय महाग्रन्थ थे। जब जीवों की बुद्धि की मन्दता हुई तब संस्कृतादि भाषामय ग्रन्थ बने। अब जीवों की बुद्धि की विशेष मन्दता हुई, उससे देशभाषामय ग्रन्थ करने का विचार हुआ। संस्कृतादि ग्रन्थ का अर्थ भी भाषा द्वारा ही जीवों को समझाते हैं। यहाँ भाषा द्वारा ही अर्थ लिखने में आया तो कुछ दोष नहीं है।

इसप्रकार विचार कर श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार 'सम्यग्ज्ञान–चन्द्रिका' नामक यह देशभाषामयी टीका करने का निश्चय किया है।

श्री अरहन्तदेव, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रसाद से तथा मूलग्रन्थकर्ता श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो।

अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख करते हैं –

हे भव्य जीव ! तुम अपने हित की वांछा करते हो, तो तुमको जिसप्रकार हित बने उसप्रकार ही इस शास्त्र का अभ्यास करना।

आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित है, विनाशीक है, दु:खमय है और मोक्ष ही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है। इसलिए तुम्हें मोक्षपद की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

मोक्ष के उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र हैं। इनकी प्राप्ति जीवादिक का स्वरूप जानने से ही होती है; उसे कहता हूँ –

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल के समान है। प्रथम जाने, फिर वैसी ही प्रतीति करने से श्रद्धान को प्राप्त होता है। इसलिये जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने से पूर्व ही होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारणरूप जानना।

श्रद्धान होने पर जो जीवादिक का जानना होता है, उसीका नाम सम्यग्ज्ञान है।

श्रद्धानपूर्वक जीवादि को जानते ही जीव स्वयमेव उदासीन होकर हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्‌चारित्र होता है; **अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड से सम्यक्‌चारित्र नहीं होता है।**

इसप्रकार जीवादिक को जानने से ही सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपाय की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए। इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादि का जानना यथार्थ होता है। जो संसार है, वह जीव और कर्म का सम्बन्धरूप है तथा विशेष जानने से इनके सम्बन्ध का अभाव होता है, वही मोक्ष है। इसलिये इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है। अथवा जीवादिक षट् द्रव्य, सप्त तत्त्वादिक का भी इसमें यथार्थ निरूपण है, अत: इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

अब यहाँ अनेक जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने के कारण

विपरीत विचार प्रगट करते हैं। उनको समझाते हैं –

अनेक जीव केवल प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का ही पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्र के अभ्यास का निषेध करते हैं।

११. प्रश्न : उनमें से **प्रथमानुयोग का पक्षपाती** कहता है कि वर्तमान में जीवों की बुद्धि बहुत मंद है, उनको ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में कुछ भी समझ में नहीं आता; इसलिये तीर्थंकरादिक की कथा का उपदेश दिया जाय तो ठीक से समझ लें और समझकर पाप से डरकर धर्मानुरागरूप हों; इसलिये प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी है।

उत्तर : अभी सर्व जीव तो एक से नहीं हैं, हीनाधिक बुद्धि दिख रही है; अत: जैसा जीव हो, वैसा उपदेश देना। अथवा मंदबुद्धि जीव भी सिखाने से, अभ्यास करने से बुद्धिमान होते दिखाई दे रहे हैं। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, उनको तो यह ग्रन्थ कार्यकारी है ही और जो मन्दबुद्धि हैं, वे विशेषबुद्धिवालों द्वारा सामान्य-विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्तन करें।

१२. प्रश्न : यहाँ मंदबुद्धिवाला कहता है कि यह गोम्मटसार शास्त्र तो गणित समस्या का वर्णन करनेवाला अनेक अपूर्व कथन सहित होने से बहुत कठिन है, ऐसा सुनते आये हैं। हम उसमें किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं ?

उत्तर : भय न करो। इस भाषा टीका में गणित आदि का अर्थ सुगमरूप बनाकर कहा है; अत: प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा। इस शास्त्र में कथन कहीं तो सामान्य है, कहीं विशेष है, कहीं सुगम है; कहीं कठिन है। वहाँ यदि सर्व अभ्यास बन सके, तो अच्छा ही है और यदि न बन सके तो अपनी बुद्धि के अनुसार जितना हो सके, उतना ही अभ्यास करो, अपने उपाय में आलस्य नहीं करना।

तूने कहा – जीव प्रथमानुयोग सम्बन्धी कथादिक सुनने से पाप से डरकर धर्मानुरागरूप होता है।

वहाँ दोनों कार्य – पाप से डरना और धर्मानुरागरूप होना शिथिलता

लिये होते हैं। यहाँ पुण्य–पाप के कारण–कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य दृढ़ता लिये होते हैं। अत: इसका अभ्यास करना। इसप्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

१३. प्रश्न : अब **चरणानुयोग का पक्षपाती** कहता है कि जो इस शास्त्र में कथित जीव–कर्म का स्वरूप है, वह जैसा है, वैसा ही है, उसको जानने से क्या सिद्धी होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके व्रतों का पालन किया जाय, उपवासादिक तप किये जायें, अरहन्तादिक की पूजा, नामस्मरण आदि भक्ति की जाय, दान दिया जायें, विषय–कषायादिक से उदासीन होना इत्यादिक जो शुभ कार्य किये जायें, तो आत्महित हो; इसलिये उनका प्ररूपक चरणानुयोग का उपदेश करना चाहिए।

उत्तर : उसको कहते हैं कि – **हे स्थूलबुद्धि !** तूने व्रतादि शुभ कार्य कहे, वे करनेयोग्य ही हैं; किन्तु **वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिंदी। जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है जैसे बाँझ का पुत्र।** अत: जीवादिक का स्वरूप जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। तथा तूने जिसप्रकार व्रतादिक शुभ कार्य कहे और उनसे पुण्यबंध होता है; **ऐसा कहा वह तो ठीक है, उसीप्रकार जीवादिक का स्वरूप जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह भी सबसे बड़ा प्रधान शुभ कार्य है। इसी से सातिशय पुण्यबन्ध होता है और उन व्रतादिक में भी ज्ञानाभ्यास की ही मुख्यता है,** उसे ही कहते हैं –

जो जीव प्रथम, जीवसमासादि विशेष जानकर पश्चात् यथार्थज्ञान करके हिंसादिक का त्यागी बनकर व्रत धारण करे, वही व्रती है। जीवादिक के विशेषों को जाने बिना कुछ हिंसादिक के त्याग से अपने को व्रती माने तो वह व्रती नहीं है। इसलिये व्रत पालन में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

तप दो प्रकार का है – बहिरंग तप और अन्तरंग तप। **जिससे शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन हो, वह अन्तरंग तप है;** इनमें बहिरंग तप से अन्तरंग तप उत्कृष्ट है। उपवासादिक तो बहिरंग तप हैं, ज्ञानाभ्यास अन्तरंग तप है। सिद्धान्त में भी छह प्रकार के अन्तरंग तपों में चौथा स्वाध्याय नाम का तप कहा है, उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही है; इसलिये तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

जीवादि के विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप जानने से ही अरहंत आदि का स्वरूप भले प्रकार पहिचाना जाता है तथा अपनी अवस्था पहिचानी जाती है; ऐसी पहिचान होने पर जो अन्तरंग में तीव्र भक्ति प्रगट होती है, वही बहुत कार्यकारी है और जो कुल–क्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित् मात्र ही फल देती है। इसलिए भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

दान चार प्रकार का है। उनमें आहारदान, औषधिदान, अभयदान तो तात्कालिक क्षुधा के दु:ख को या रोग के दु:ख को या मरणादिक भय के दु:ख को ही दूर करते हैं; किन्तु **जो ज्ञानदान है, वह अनन्त भव से चले आ रहे दु:ख को दूर करने में कारण है। तीर्थंकर केवली, आचार्यादिक के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति मुख्य है। अत: ज्ञानदान उत्कृष्ट है।** इसलिये जिसके ज्ञानाभ्यास हो तो वह अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को भी ज्ञानदान देता है।

ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञानदान देना कैसे हो सकता है ? इसलिये दान में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

जैसे जन्म से ही कोई पुरुष ठगों के घर पहुँच जाय, वहाँ वह ठगों को अपना मानता है। कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान करने से ठगों से अन्तरंग में उदासीन हो जाता है। उनको पर जानकर सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है और कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है; किसी कारण से ठगों से अनुराग करता है और कोई ठगों से लड़कर उदासीन होता है, आहारादिक का त्याग कर देता है।

वैसे ही अनादि से सब जीव संसार को प्राप्त हैं, वहाँ कर्मों को अपना मानते हैं। उनमें से कोई जीव किसी निमित्त से जीव और कर्म का यथार्थ ज्ञान करके कर्मों से उदासीन होकर उनको पर जानने लगा, उनसे सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है।

इसप्रकार जो ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीनता होती है, वही कार्यकारी है। कोई जीव उन कर्मों को अपना जानता है और किसी कारण से कोई शुभ कर्मों से अनुरागरूप प्रवृत्ति करता है, कोई अशुभ कर्म को दु:ख का कारण जानकर उदासीन होकर विषयादिक का त्यागी होता है।

इसप्रकार **ज्ञान के बिना जो उदासीनता होती है, वह पुण्य-फल की दाता है, मोक्षकार्य को नहीं साधती है। इसलिये उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।** इसीप्रकार अन्य भी शुभ कार्यों में ज्ञानाभ्यास को ही प्रधान जानना। देखो ! महामुनियों के भी ध्यान और अध्ययन - दो ही कार्य मुख्य हैं। इसलिये इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा जीव तथा कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना।

१४. प्रश्न : यहाँ कोई तर्क करे कि कोई जीव शास्त्र का अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता, तो उसके शास्त्र का अध्ययन कार्यकारी है या नहीं ? यदि है, तो महन्त पुरुष क्यों विषयादिक तजें ? और यदि नहीं तजें तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहाँ रही ?

उत्तर : शास्त्राभ्यासी दो प्रकार के हैं, एक लोभार्थी और एक धर्मार्थी।

वहाँ **जो जीव अन्तरंग अनुराग के बिना ख्याति, पूजा, लाभादिक के प्रयोजन से शास्त्राभ्यास करे, वह लोभार्थी है; वह विषयादिक का त्याग नहीं करता। अथवा ख्याति, पूजा, लाभादिक के अर्थ विषयादिक का त्याग भी करता है; फिर भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है।**

जो जीव अन्तरंग अनुराग से आत्महित के अर्थ शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है।

प्रथम तो जैनशास्त्र ही ऐसे हैं कि जो उनका धर्मार्थी होकर अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही करता है; उसका तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही।

कदाचित् पूर्व कर्मोदय की प्रबलता से **न्यायरूप विषयादिक का त्याग न हो सके,** तो भी उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के कारण ज्ञानाभ्यास

कार्यकारी होता है; जिसप्रकार असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना होता है।

१५. प्रश्न : जो धर्मार्थी होकर जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो सके, ऐसा तो नहीं बनता; क्योंकि विषयादिक का सेवन परिणामों से होता है और परिणाम स्वाधीन होते हैं।

उत्तर : परिणाम दो प्रकार के हैं - एक बुद्धिपूर्वक, एक अबुद्धिपूर्वक। वहाँ **जो परिणाम अपने अभिप्राय के अनुसार हों, वे बुद्धिपूर्वक और जो परिणाम दैव (कर्म) निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा (विरुद्ध) हों, वे अबुद्धिपूर्वक।**

जिसप्रकार सामायिक करते समय धर्मात्मा का अभिप्राय तो ऐसा होता है कि मैं अपने परिणाम शुभरूप रखूं, वहाँ जो शुभ परिणाम ही हों, वे तो बुद्धिपूर्वक हैं और यदि कर्मोदय से स्वयमेव अशुभ परिणाम हों, वे अबुद्धिपूर्वक जानना।

उसीप्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसका अभिप्राय तो विषयादिक के त्यागरूप वीतरागभाव की प्राप्ति का ही होता है। वहाँ पर वीतरागभाव होता है, वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से (उदय के वश होने पर) सरागभाव होता है, वह अबुद्धिपूर्वक है। अत: स्ववश बिना (परवश) जो सरागभाव होते हैं, उनसे उसकी विषयादिक की प्रवृत्ति दिख रही है; क्योंकि बाह्यप्रवृत्ति का कारण परिणाम है।

१६. प्रश्न : यदि इसीप्रकार है, तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे और कहेंगे - हमारे उदयाधीन कार्य होते हैं।

उत्तर : रे मूर्ख ! कहने से तो कुछ होता नहीं, **सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार होती है। इसलिए जैनशास्त्रों के अभ्यास के द्वारा अपने अभिप्राय को सम्यक्रूप करना।** अन्तरंग में विषयादिक सेवन का अभिप्राय हो, तो धर्मार्थी नाम नहीं पाता। इसप्रकार चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

१७. प्रश्न : अब **द्रव्यानुयोग का पक्षपाती** कहता है कि इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्मों के विशेष (भेद) का वर्णन किया है; किन्तु उनको जानने से तो अनेक विकल्प-तरंग उत्पन्न होते हैं और कुछ सिद्धि नहीं है। इसलिए अपने शुद्धस्वरूप को अनुभवना अथवा स्व-पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है। अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्म शास्त्र हैं, उन्हीं का अभ्यास करना योग्य है।

उत्तर : हे सूक्ष्माभास बुद्धि ! तूने कहा वह सत्य है; किन्तु अपनी अवस्था देखना। **यदि स्वरूपानुभव में तथा भेदविज्ञान में उपयोग निरन्तर रहता है, तो अन्य विकल्प क्यों करना ? वहाँ ही स्वरूपानन्द सुधारस का स्वादी होकर सन्तुष्ट होना;** किन्तु निचली अवस्था में वहाँ निरन्तर उपयोग रहता ही नहीं, उपयोग अनेक अवलम्बनों को चाहता है। अत: जिस काल वहाँ उपयोग न लगे, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना।

तथा तूने कहा कि अध्यात्म शास्त्रों का ही अभ्यास करना, सो योग्य ही है; किन्तु वहाँ भेदविज्ञान करने के लिए स्व-पर का सामान्यपने स्वरूप निरूपण है और विशेष ज्ञान बिना सामान्य जानना स्पष्ट नहीं होता। इसलिए जीव और कर्मों के विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व-पर का जानना स्पष्ट होता है। उस विशेष जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करना; क्योंकि सामान्यशास्त्र से विशेषशास्त्र निश्चय से बलवान होता है, वही कहा है - **सामान्य शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।**

१८. प्रश्न : अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों से रहित शुद्धस्वरूप का अनुभव करना उपादेय कहा है और यहाँ गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है; इसलिए अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्र में तो विरुद्धता भासित होती है, वह कैसे है ?

उत्तर : नय दो प्रकार के हैं - निश्चयनय और व्यवहारनय।

निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित, अभेदवस्तु मात्र ही है और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेष सहित अनेक प्रकार हैं। वहाँ **जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभवते हैं, उनको तो वहाँ शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्धनिश्चयनय है, वही कार्यकारी है।**

जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुए हैं तथा जो स्वानुभवदशा से छूटकर सविकल्पदशा को प्राप्त हुए हैं - ऐसा अनुत्कृष्ट जो अशुद्धस्वभाव, उसमें स्थित जीवों को व्यवहारनय प्रयोजनवान है। वही अध्यात्मशास्त्र समयसार गाथा-१२ में कहा है -

सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।

इस गाथा की व्याख्या के अर्थ को विचार कर देखना। सुनो ! तुम्हारे परिणाम स्वरूपानुभव दशा में तो वर्तते नहीं और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार नहीं करोगे तो तुम **इतो भ्रष्ट: ततो भ्रष्ट:**, होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्तन करोगे, वहाँ तेरा बुरा ही होगा।

और सुनो ! सामान्यपने से तो वेदान्त आदि शास्त्राभासों में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहते हैं, वहाँ विशेष को जाने बिना यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो ?

इसलिये **गुणस्थानादि विशेष जानने से जीव की शुद्ध, अशुद्ध एवं मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ को अंगीकार करना। और सुनो ! जीव का गुण ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रगट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है। जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होने पर परमावगाढ़ नाम को प्राप्त होता है, इसलिये विशेषों को जानना।**

१९. प्रश्न : आपने कहा वह सत्य; किन्तु करणानुयोग द्वारा विशेष जानने से भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्म श्रद्धान बिना संसारी ही रहते हैं और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यंचादिक को अल्प ज्ञान होने पर भी यथार्थ श्रद्धान से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तथा **तुषमाषभिन्न:** इतना ही श्रद्धान करने से शिवभूति नामक मुनि मुक्त हुए हैं। अत: हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन नहीं होता। प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे।

उत्तर : द्रव्यलिंगी जिसप्रकार करणानुयोग द्वारा विशेष को जानता है,

उसीप्रकार अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उसको होता है; किन्तु मिथ्यात्व के उदय से (मिथ्यात्व वश) अयथार्थ साधन करता है, तो शास्त्र क्या करें?

शास्त्रों में तो परस्पर विरोध है नहीं, कैसे ? उसे कहते हैं –

करणानुयोग के शास्त्रों में तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव, आत्मा के कर्म निमित्त से उत्पन्न कहे हैं; द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है और शरीराश्रित सर्व शुभाशुभ क्रिया पुद्गलमयी कही है; किन्तु द्रव्यलिंगी उसे अपनी जानकर उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है।

सर्व ही शुभाशुभ भाव, आस्रव-बंध के कारण कहे हैं; किन्तु द्रव्यलिंगी शुभभावों को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता है। शुद्धभाव को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण कहा है; किन्तु द्रव्यलिंगी उसे पहिचानता ही नहीं और (प्रगट) शुद्धात्मस्वरूप को मोक्ष कहा है, उसका द्रव्यलिंगी को यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। इसप्रकार अन्यथा साधन करे, तो उसमें शास्त्रों का क्या दोष है ?

तूने कहा कि तिर्यंचादिक को सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि हो जाती है। तिर्यंचादिक को भी अपने क्षयोपशम के अनुसार विशेष जानना होता ही है। अथवा पूर्व पर्यायों में (पूर्वभव में) विशेष का अभ्यास किया था, उसी संस्कार के बल से (विशेष का जानना) सिद्ध होता है।

जिसप्रकार किसी ने कहीं पर गड़ा हुआ धन पाया, तो हम भी उसी प्रकार पावेंगे; ऐसा मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग करना योग्य नहीं। उसीप्रकार किसी को अल्प श्रद्धान द्वारा ही कार्यसिद्धि हुई है, तो हम भी इसप्रकार ही कार्य की सिद्धी करेंगे, ऐसा मानकर सब ही को विशेष अभ्यास का त्याग करना उचित नहीं; क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है। **राजमार्ग तो यही है – नानाप्रकार के विशेष (भेद) जानकर तत्त्वों का निर्णय होते ही कार्यसिद्धि होती है।**

तूने जो कहा कि मेरी बुद्धि से विकल्प साधन नहीं होता; तो जितना हो सके, उतना ही अभ्यास कर। **तू पाप कार्य में तो प्रवीण है और इस अभ्यास में कहता है 'मेरी बुद्धि नहीं है', सो यह तो पापी का लक्षण है।** इसप्रकार द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं –

२०. प्रश्न : शब्दशास्त्रादिक का पक्षपाती कहता है कि व्याकरण, न्याय, कोश, छंद, अलंकार, काव्यादिक ग्रन्थों का अभ्यास किया जाय तो अनेक ग्रन्थों का स्वयमेव ज्ञान होता है व पण्डितपना भी प्रगट होता है। इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान होता है व पण्डितपना विशेष प्रगट नहीं होता; अत: शब्द-शास्त्रादिक का अभ्यास करना।

उत्तर : यदि तुम, लोक में ही पण्डित कहलाना चाहते हो, तो तुम उन ही का अभ्यास किया करो और **यदि अपना (हितरूप) कार्य करने की चाह है, तो ऐसे जैन ग्रन्थों का ही अभ्यास करने योग्य है।** तथा जैनी तो जीवादिक तत्त्वों के निरूपण करनेवाले जो जैन ग्रन्थ हैं, उन्हीं का अभ्यास होने पर पण्डित मानेंगे।

२१. प्रश्न : वह कहता है कि मैं जैन ग्रन्थों के विशेष ज्ञान होने के लिये व्याकरणादिक का अभ्यास करता हूँ।

उत्तर : ऐसा है, तो भला ही है; किन्तु इतना है कि जिसप्रकार चतुर किसान अपनी शक्ति अनुसार हलादिक द्वारा खेत को अल्प-बहुत सम्हाल-कर समय पर बीज बोवे, तो उसे फल की प्राप्ति होती है।

उसीप्रकार तुम भी यदि अपनी शक्ति अनुसार व्याकरणादिक के अभ्यास से बुद्धि को अल्प बहुत सम्हालकर जितने काल तक मनुष्य पर्याय तथा इन्द्रियों की प्रबलता इत्यादिक हैं, उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारण जो शास्त्र हैं, उनका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति हो जायेगी।

जिसप्रकार अज्ञानी किसान हलादिक से खेत को संवारता-संवारता ही समय खोवे और समय पर बीज न बोवे तो उसको फल-प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा।

उसीप्रकार तू भी यदि व्याकरणादिक द्वारा बुद्धि को संवारता-संवारता ही समय खोयेगा, तो सम्यक्त्वादिक की प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा।

इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं, इसलिए प्रयोजनमात्र अभ्यास करना; शास्त्रों का तो पार है नहीं और सुन ! **कुछ जीव व्याकरणादि के ज्ञान बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषा शास्त्रों के द्वारा व उपदेश सुनकर तथा सीखने से भी तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं।** कई जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं – ऐसा भी देखा जाता है।

और सुनो ! व्याकरणादिक का अभ्यास करने से पुण्य उत्पन्न नहीं होता; किन्तु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य होता है। **तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उत्पन्न होता है,** इसलिए भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। इसप्रकार शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को इस शास्त्र के सन्मुख किया।

२२. प्रश्न : अर्थ/धन का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या होता है ? सर्व कार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है; धनवान के निकट अनेक पण्डित आकर रहते हैं। अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है। अत: धन पैदा करने का उद्यम करना।

उत्तर : रे पापी ! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो होता नहीं, भाग्य से होता है। **इस ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है।** यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? यदि नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा ? **धन का होना न होना तो उदयाधीन है,** शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है ? और सुनो ! **धन है वह तो विनाशीक है, भय-संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है व नरकादि का कारण है।**

जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। अत: महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगते हैं और तू पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन पैदा करने की बढ़ाई करता है, तू तो अनंत संसारी है।

तूने कहा कि प्रभावनादिक धर्म भी धन से होते हैं; किन्तु **वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्य क्रिया संयुक्त है; इसलिए समस्त सावद्य पाप रहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है।** यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिए लगते हैं ?

शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादि भी विशेष होती है।

तूने कहा कि धनवान के निकट पंडित भी आकर रहते हैं। सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ तो ऐसा ही होता है।

शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं। यहाँ भी बड़े-बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यासवालों से धनवानों को महंत न जानो।

तूने कहा कि धन से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है (किन्तु ऐसा नहीं है।) उस धन से तो इस लोक संबंधी कुछ विषयादिक कार्य इसप्रकार से सिद्ध होते हैं, जिससे बहुत काल तक नरकादिक के दु:ख सहने पड़ते हैं और **शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इस लोक-परलोक में अनेक सुखों की परम्परा प्राप्त होती है।**

इसलिए धन पैदा करने के विकल्प को छोड़कर **शास्त्राभ्यास करना और ऐसा सर्वथा न बने तो संतोष पूर्वक धन पैदा करने का साधन करके शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।** इसप्रकार धन पैदा करने के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास सन्मुख किया।

२३. प्रश्न : काम-भोगादिक का पक्षपाती कहता है कि शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़प्पन नहीं है; इसलिए जिनके द्वारा यहाँ ही सुख हो, ऐसे जो स्त्रीसेवन, खाना, पहिनना इत्यादिक विषय, उनका सेवन किया जाय अथवा जिसके द्वारा यहाँ ही बड़प्पन हो, ऐसे विवाहादिक कार्य किये जायें।

उत्तर : विषयजनित जो सुख है, वह दु:ख ही है; क्योंकि विषय-सुख तो पर-निमित्त से होता है। **पहले, पीछे और तत्काल ही आकुलता**

सहित है और जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते ही हैं। आगामी काल में नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है। ऐसा होने पर भी वह तेरी चाह अनुसार मिलता ही नहीं, पूर्व पुण्य से होता है, इसलिए विषम है।

जैसे – खाज से पीड़ित पुरुष अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाते हैं; वैसे ही इन्द्रियों से पीड़ित जीव, उनकी पीड़ा सही न जाय, तब किंचित् मात्र जिनमें पीड़ा का प्रतिकार-सा भासे, ऐसे जो विषय सुख, उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख है ही नहीं।

शास्त्राभ्यास करने से जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उससे उत्पन्न आनन्द, वह सच्चा सुख है। वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, इसलिए विषम नहीं है।

जिसप्रकार यदि खाज की पीड़ा नहीं हो तो सहज ही सुखी होता है; उसीप्रकार जब वहाँ इन्द्रियाँ पीड़ा देने के लिए समर्थ नहीं होती हैं, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है। इसलिए विषय सुख को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा विषय न छूटे तो जितना हो सके उतना छोड़कर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

तूने विवाहादिक कार्य में बढ़ाई होना कही, वह बढ़ाई कितने दिन रहेगी? जिसके लिए महापापारंभ कर नरकादि में बहुत काल तक दुःख भोगना होगा। उन कार्यों में तुझसे भी अधिक धन लगानेवाले बहुत हैं; अत: विशेष बढ़ाई भी होनेवाली नहीं है।

शास्त्राभ्यास में तो ऐसी बढ़ाई होती है कि जिसकी **सर्वजन महिमा करते हैं, इन्द्रादिक भी प्रशंसा करते हैं और परम्परा से स्वर्ग-मोक्ष का कारण है।** इसलिए विवाहादिक कार्यों का विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना। सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प नहीं करना। इसप्रकार काम-भोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास के सन्मुख किया।

इसप्रकार अन्य जीव भी जो विपरीत विचार से इस ग्रन्थ के अभ्यास में अरुचि प्रगट करते हैं, उनको यथार्थ विचार करके इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है।

२४. प्रश्न : यहाँ **अन्यमती** कहते हैं कि तुमने अपने ही शास्त्र के अभ्यास करने को दृढ़ किया। हमारे मत में नाना युक्ति आदि सहित शास्त्र हैं; उनका भी अभ्यास क्यों न कराया जाय ?

उत्तर : तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं है। कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं काम-सेवन आदि का, कहीं हिंसादिक के कथन हैं। ये तो बिना ही उपदेश सहज में ही हो रहे हैं; अत: इनको तजने से हित होता है। अन्यमत तो उलटा उनका ही पोषण करता है; इसलिए उससे हित कैसे होगा ?

२५. प्रश्न : वहाँ कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं, तो उससे भला होता है।

उत्तर : वहाँ कहते हैं कि **यदि ईश्वर को सहज सुख नहीं होगा, तब संसारीवत् लीला से सुखी हुआ। यदि वह सहज सुखी होता, तो किसलिए विषयादि सेवन या युद्धादि करता ?** क्योंकि मंदबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचित् मात्र भी कार्य नहीं करते; इससे जाना जाता है कि वह ईश्वर हम जैसा ही है। उसका यश गाने से क्या सिद्धि होगी ?

२६. प्रश्न : वह फिर कहता है कि हमारे शास्त्रों में त्याग, वैराग्य, अहिंसादिक का भी तो उपदेश है।

उत्तर : वह सब उपदेश पूर्वापर विरोध सहित है, कहीं विषय पोषते हैं, कहीं निषेध करते हैं; कहीं पहले वैराग्य दिखाकर, पश्चात् हिंसादिक का करना पुष्ट किया है। वह वातुलवचनवत् प्रमाण कैसे हो ?

२७. प्रश्न : वह कहता है कि वेदान्त आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का निरूपण है।

उत्तर : उनको कहते हैं – नहीं, वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है, उसका निराकरण जैनदर्शन के न्यायशास्त्रों में किया है, वहाँ से जानना; इसलिए अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास न करना। इसप्रकार जीवों को इस शास्त्र के अध्ययन में सन्मुख किया।

उनको कहते हैं ......

''हे भव्य जीवो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। **शब्द या अर्थ का बांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं,** वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्रों का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम व दुर्गम, अनेक अर्थों का निरूपण है; वहाँ जिसका बने उसका ही अभ्यास करना; परंतु अभ्यास में आलसी नहीं होना।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं –

१. क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है।
२. पंचेन्द्रियों के विषयों में होनेवाली प्रवृत्ति रुकती है।
३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।
४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।
७. आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।)
८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
९. लोक में महिमा/यश विशेष होता है।
१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

२८. प्रश्न : हे भव्य ! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है, कैसे ?

उत्तर : एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त जीवों को तो मन ही नहीं है; नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यंच विवेक रहित, देव विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर ही शास्त्राभ्यास होता है। इस मनुष्य पर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महादुर्लभ है।

द्रव्य अपेक्षा से तो लोक में मनुष्य जीव बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यात-मात्र ही हैं और अन्य जीवों में निगोदिया अनन्त हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं।

क्षेत्र अपेक्षा से मनुष्यों का क्षेत्र **बहुत** स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीप मात्र है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है; दूसरों का कितने ही राजू प्रमाण है।

काल अपेक्षा से मनुष्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है, कर्मभूमि अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल - एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्‌गलपरावर्तनमात्र और अन्यों में संख्यात पल्यमात्र है।

भाव अपेक्षा से तीव्र शुभाशुभपनेसे रहित ऐसे मनुष्य पर्याय के कारणरूप परिणाम होना अतिदुर्लभ हैं। अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप वा शुभरूप परिणाम होना सुलभ हैं।

इसप्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्य पर्याय, उसका दुर्लभपना जानना।

वहाँ उत्तम निवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। यह प्रत्यक्ष दिख रहा है और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थाभ्यास बनता नहीं है। सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है; इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं।

जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो, अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ और जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना वा पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना, इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्यकारण, उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है व महान पुण्य उत्पन्न होता है। इसप्रकार इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया। ❁

अध्याय दूसरा

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्माणवर्गणारूप पुद्‌गल की विशिष्ट अवस्था को कर्म कहते हैं।

२. प्रश्न : कार्माणवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मरूप परिणमित होने योग्य वर्गणाओं को कार्माण वर्गणा कहते हैं।

३. प्रश्न : कर्म के मूल भेद कितने हैं ?

उत्तर : कर्म के मूल भेद आठ हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिकर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिकर्म हैं।

४. प्रश्न : मोह किसे कहते हैं ?

उत्तर : परद्रव्यों में जीव को अहंकार-ममकाररूप परिणाम का होना, वह मोह है।

- द्रव्य, गुण, पर्याय संबंधी मूढ़तारूप परिणाम, वह मोह है।
- देव, गुरु, धर्म, आप्त, आगम और पदार्थों के संबंध में अज्ञानभाव, वह मोह है।

विपरीत मान्यता, तत्त्वों का अश्रद्धान, विपरीत अभिप्राय, परपदार्थों में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं सुखबुद्धि अर्थात् शरीर को अपना स्वरूप मानना, पंचेन्द्रिय-विषयों में सुख मानना, अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रखना, स्वयं को पर का अथवा पर को अपना कर्ता-धर्ता-हर्ता मानना इत्यादि मिथ्यात्वभाव दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के श्रद्धा गुण के विकारी परिणामों को मोह कहते हैं।

५. प्रश्न : राग किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी पदार्थ को इष्ट जानकर उसमें जीव के प्रीतिरूप परिणाम का होना, वह राग है।

माया, लोभ, हास्य, रति, तीन वेदरूप परिणाम और परपदार्थों के प्रति आकर्षण, स्नेह, प्रेम, ममत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि, आसक्ति इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय मेंअर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के चारित्र गुण के कषायरूप परिणमन अर्थात् परिणामों को राग कहते हैं।

६. प्रश्न : द्वेष किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी पदार्थ को अनिष्ट जानकर उसमें जीव के अप्रीतिरूप परिणाम का होना, वह द्वेष है।

क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और परपदार्थों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, जलन, द्रोह, असूया इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के चारित्र गुण के कषायरूप परिणमन अर्थात् परिणामों को द्वेष कहते हैं।

७. प्रश्न : कर्मों की कितनी अवस्थाएँ होती हैं ?

उत्तर : कर्मों की दस अवस्थाएँ होती हैं - १) बंध २) सत्ता ३) उदय ४) उदीरणा ५) उत्कर्षण ६) अपकर्षण ७) संक्रमण ८) उपशांत ९) निधत्ति १०) निकाचित।

८. प्रश्न : बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध को बंध कहते हैं।

९. प्रश्न : बंध के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : बंध के चार भेद होते हैं - १) प्रकृति बंध २) प्रदेश बंध ३) स्थिति बंध ४) अनुभाग बंध।

१०. प्रश्न : प्रकृति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृति अर्थात् स्वभाव **जैसे** - नीम का स्वभाव कडुआ, गुड़

का स्वभाव मीठा होता है, उसीप्रकार कर्मों के अपने-अपने स्वभाव को प्रकृति बंध कहते हैं।

• कर्मरूप परिणमित होनेयोग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतिरूप तथा उसके भेद-उत्तरप्रकृतिरूप परिणमन होने का नाम **प्रकृति बंध** है।

११. प्रश्न : प्रदेश बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के साथ प्रति समय जितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमन करते हैं, उनके प्रमाण अर्थात् संख्या को **प्रदेश बंध** कहते हैं।

१२. प्रश्न : स्थिति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गल स्कंधों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहस्थितिरूप कालावधि के बंधन को **स्थिति बंध** कहते हैं।

१३. प्रश्न : अनुभाग बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मों के रस विशेष को अथवा फल प्रदान करने की शक्ति विशेष को **अनुभाग बंध** कहते हैं।

१४. प्रश्न : सत्त्व अथवा सत्ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक समयों में बंधें हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम सत्त्व अथवा **सत्ता** है।

१५. प्रश्न : उदय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्म की स्थिति पूरी होते ही कर्म के फल देने को **उदय** कहते हैं।

१६. प्रश्न : उदीरणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों के निमित्त से कर्म की स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्म के उदय में आकर फल देने को **उदीरणा** कहते हैं।

• जीव के परिणामों के निमित्त से कर्म के उदयावली के बाहर के निषेकों का उदयावली के निषेकों में आ मिलना उदीरणा है।

• जिस कर्म का उदयकाल नहीं था, उस कर्म के उदयकाल में आने को उदीरणा कहते हैं।

• **अकालपाक को उदीरणा कहते हैं।**

१७. प्रश्न : उत्कर्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग के बढ़ने को **उत्कर्षण** कहते हैं।

१८. प्रश्न : अपकर्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग के घटने को **अपकर्षण** कहते हैं।

१९. प्रश्न : संक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होने को **संक्रमण** कहते हैं।

जैसे – विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय प्रकृति के परमाणुओं का साता वेदनीयरूप तथा साता वेदनीय के परमाणुओं का असाता वेदनीयरूप परिणमन होना।

• इसमें भी इतनी विशेषता है कि **१.** मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। २. चारों आयुओं में आपस में संक्रमण नहीं होता। **३.** मोहनीय का उत्तरभेद-दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में संक्रमण नहीं होता। ४. दर्शनमोहनीय के भेदों में एवं चारित्रमोहनीयकर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।

२०. प्रश्न : उपशांत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म उदय में नहीं आ सके, सत्ता में रहे, वह उपशांत कहलाता है।

• सत्ताविषैं तिष्ठता अपनी-अपनी स्थिति को धरै हैं ज्ञानावरणादिक कर्म का द्रव्य जा विषै, जाकी जावत् काल उदीरणा न होय तावत् काल उपशांत करण कहिए।

• उपशांत करण आठों कर्मों में होता है।

• उपशांत अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है; किन्तु उसकी उदीरणा नहीं होती।

• कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशांतकरण है।

२१. प्रश्न : उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा में कर्म की निजशक्ति का कारणवश प्रगट न होना,

उपशम है। **जैसे** – कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है।

• परिणामों की विशुद्धता से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना उपशम है।

• उपशम मात्र दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय में होता है, अन्य किसी भी कर्मों में नहीं।

• कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशम करण नहीं है।

• प्रशस्त-अप्रशस्त भेद उपशांत के नहीं है।

२२. प्रश्न : प्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : (अ) अध:करणादि द्वारा उपशम विधान से (अनंतानुबंधी चतुष्क बिना) मोहनीय कर्म की जो उपशमना होती है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। इसे अंतरकरणरूप उपशम भी कहते हैं।

(ब) आगामी काल में उदय आनेयोग्य कर्म परमाणुओं को जीवकृत परिणाम विशेष के द्वारा आगे-पीछे उदय में आनेयोग्य होने को अंतर-करणरूप उपशम कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय का प्रशस्त उपशम ही होता है।

(क) उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात के बिना कर्मों के सत्ता में रहने को प्रशस्त उपशम कहते हैं।

२३. प्रश्न : अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रशस्त उपशम का दूसरा नाम सदवस्थारूप उपशम भी है।

• वर्तमान समय छोड़कर आगामी काल में उदय आनेवाले कर्मों का सत्ता में पड़े रहने को सदवस्थारूप उपशम या अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

• उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है।

• अनंतानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। **जैसे** – सर्वघाती प्रकृतियों का क्षयोपशम दशा में होनेवाला सदवस्थारूप उपशम।

• जो कर्म तीन करणों के बिना ही सत्ता में स्वयं दबा हुआ रहे, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

• सम्यग्दर्शन के समय जो तीन करण होते हैं, वे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के लिए होते हैं, अनंतानुबंधी कषाय को दबाने के लिए नहीं; परन्तु अनन्तानुबन्धी का सदवस्थारूप/अप्रशस्त उपशम अपने आप होता है।

२४. प्रश्न : निधत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं।

२५. प्रश्न : निकाचित किसे कहते हैं ?

उत्तर : संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के अयोग्य प्रकृतियों को निकाचित कहते हैं।

ये तीनों (उपशांत द्रव्यकर्म, निधत्ति एवं निकाचित कर्म) प्रकार के करण द्रव्य अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यंत ही पाये जाते हैं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के तीनों करण युगपत् व्युच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। **(कर्मकाण्ड गाथा : ४५० एवं जयधवला पुस्तक : १३, पृष्ठ : २३१, ६७६)**

२६. प्रश्न : उदयावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमान समय से लेकर एक आवली पर्यंत काल में उदय आनेयोग्य निषेकों को उदयावली कहते हैं।

२७. प्रश्न : निषेक किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक समय में उदय आनेवाले कर्मपरमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं।

२८. प्रश्न : क्षय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर होने को क्षय कहते हैं।

• कर्मों का कर्मरूप से नाश होने को अर्थात् अकर्मरूप दशा होने को क्षय कहते हैं।

२९. प्रश्न : श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन होता है ?

उत्तर : सातिशय अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिराज श्रेणी चढ़ने के पात्र होते हैं।

• क्षायिक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त मुनिराज, उपशम अथवा क्षपकश्रेणी चढ़ सकते हैं; परन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मात्र उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं।

३०. प्रश्न : श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्रमोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क बिना शेष २१ प्रकृतियों के उपशम वा क्षय में निमित्त होनेवाले जीव के शुद्ध भावों अर्थात् वृद्धिंगत वीतराग परिणामों को श्रेणी कहते हैं।

३१. प्रश्न : श्रेणी के कितने भेद हैं?

उत्तर : उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी, इसप्रकार दो भेद हैं।

३२. प्रश्न : श्रेणी चढ़ने से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : सातवें गुणस्थान से आगे मुनिराज क्रम से शुद्ध भावों को अर्थात् वीतरागता को बढ़ाते ही जाते हैं; इसी को श्रेणी चढ़ना कहते हैं।

• सातवें गुणस्थान से आगे वृद्धिंगत वीतराग परिणामों की दो श्रेणियाँ हैं - १. उपशमश्रेणी व २. क्षपकश्रेणी है। प्रत्येक श्रेणी के चार-चार गुणस्थान होते हैं।

३३. प्रश्न : उपशमश्रेणी किसे कहते हैं ? उसके कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर : जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ ये चार गुणस्थान उपशमश्रेणी के हैं।

३४. प्रश्न : क्षपकश्रेणी किसे कहते हैं ? उसके कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर : जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के क्षय के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ ये चार गुणस्थान क्षपकश्रेणी के हैं।

३५. प्रश्न : मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ? उसके कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों के होने में जो कर्म निमित्त होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। उसके दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्रमोहनीय कर्म।

३६. प्रश्न : दर्शनमोहनीय कर्म के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : बंध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय कर्म एक ही प्रकार का है; किन्तु सत्त्व अर्थात् सत्ता और उदय की अपेक्षा से उसके तीन भेद हैं - (१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व (३) सम्यक्प्रकृति।

जैसे – चक्की में दले हुये कोदों के चावल, कण और भूसी, इसप्रकार तीन भेद होते हैं; उसीप्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी चक्की में दले गये दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद होते हैं।

३७. प्रश्न : मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होकर तत्त्वार्थश्रद्धान में निरुत्सुक, हिताहित विचार करने में असमर्थ, मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यतारूप परिणाम में निमित्त होनेवाले कर्म को मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

३८. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रक्षालित क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदों के समान मिश्र श्रद्धान में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

३९. प्रश्न : सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोषों के उत्पन्न होने में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

४०. प्रश्न : चारित्रमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष की निवृत्तिमय आत्मस्थिरता-रूप चारित्र की अप्रगटता में निमित्त होनेवाले कर्म को चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

४१. प्रश्न : चारित्रमोहनीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर : दो भेद हैं - कषाय और नोकषाय।

कषाय के सोलह भेद हैं - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

नोकषाय के नौ भेद हैं - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। **(ये ९ नोकषायें अनंतानुबंधी आदि चार भेदरूप भी होती हैं अर्थात् इनका उदय उन क्रोधादि के साथ यथासम्भव होता है। खुलासा के लिए भावदीपिका पृष्ठ ४९ से ७० कषायभाव अंतराधिकार पढ़ें।)**

४२. प्रश्न : कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अमर्याद/विस्तृत संसाररूपी कर्मक्षेत्र को जोतकर आत्मस्वभाव से विपरीत लौकिक सुख और दु:ख आदि अनेक प्रकार के धान्य के उत्पादक जीव के विकारी परिणामों को कषाय कहते हैं।

• आत्मा को दु:खी करनेवाले, आकुलित करनेवाले, कसनेवाले

परिणामों को कषाय कहते हैं। इन ही परिणामों के समय पूर्वबद्ध कर्मों का जो उदय निमित्त होता है, उसे ही कषाय कर्म कहते हैं।

• इन कषाय परिणामों के समय स्वयं कर्मरूप परिणमित नवीन कार्माणवर्गणाओं को कषाय कर्म कहते हैं।

४३. प्रश्न : नोकषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नो = ईषत्, किंचित्, अल्प। किंचित् कषाय कर्म को नोकषाय कर्म कहते हैं।

४४. प्रश्न : अनंतानुबंधी कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनंत + अनुबंधी = अनंतानुबंधी। अनंत = संसार अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम। अनु = साथ-साथ। बंधी = बंधनेवाली।

• मिथ्यात्व परिणाम के साथ-साथ बंधनेवाली कषाय को अनंतानुबंधी कषाय कर्म कहते हैं।

जो कषाय अनंत द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावों से अनुबंध करे सम्बन्ध जोड़े, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जैसे - अन्याय, अनीति व अविवेकपूर्वक राज्यविरुद्ध, लोकविरुद्ध व धर्मविरुद्ध अमर्यादितरूप से होनेवाले जीव के कषाय भाव।

• यह कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों के घात में निमित्त होती है।

४५. प्रश्न : अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रत्याख्यान + आवरण = अप्रत्याख्यानावरण।

अ = किंचित्, ईषत्। प्रत्याख्यान - त्याग अर्थात् किंचित् त्याग अर्थात् देशचारित्र, संयमासंयम। **द्रव्यव्रत** अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप बाह्य व्रतों का ग्रहण। **भावव्रत/चारित्र** अर्थात् दो कषाय चौकड़ी के अभाव से व्यक्त होनेवाली वीतरागता। जैसे - न्याय, नीति व विवेकपूर्वक राज्यादि के अविरुद्ध मर्यादापूर्वक होनेवाले जीव के अकषायभाव।

आवरण = ढकनेवाला।

• जीव के देशसंयमरूप चारित्र परिणामों को आवृत्त करने अर्थात् ढकने में निमित्त होनेवाले कर्म को अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म कहते हैं।

४६. प्रश्न : प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्याख्यान + आवरण = प्रत्याख्यानावरण।

प्रत्याख्यान = त्याग, महाव्रत, सकलसंयम, सकलचारित्र, संयम।

द्रव्यव्रत अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप बाह्य महाव्रतों का ग्रहण। **भावव्रत/चारित्र** अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से व्यक्त होनेवाली वीतरागता।

• जीव के सकलसंयमरूप चारित्र परिणामों को आवृत्त करने में अर्थात् ढ़कने में निमित्त होनेवाले कर्म को प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म कहते हैं।

४७. प्रश्न : संज्वलन कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम् + ज्वलन = संज्वलन, सम् = अच्छी रीति से। ज्वलन = प्रकाशित होना। जीव के सकलसंयम परिणामों के साथ जो अच्छी तरह से प्रकाशित होती है, रह सकती है। (नष्ट होती है, जलती है)

• जो संकलसंयम परिणामों के घात में निमित्त नहीं होती है; लेकिन सकलसंयम के साथ रहती है, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

• जीव के यथाख्यातचारित्र परिणामों अर्थात् पूर्ण वीतराग भाव के घात में निमित्त होनेवाले कर्म को संज्वलन कषाय कर्म कहते हैं।

४८. प्रश्न : क्षयोपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावीक्षय, भविष्य में उदय में आनेयोग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय, इन तीनरूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।

४९. प्रश्न : उदयाभावीक्षय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होता है, तब आत्मा के गुण की तनिक भी अभिव्यक्ति नहीं होती; इसलिए उस उदय के अभाव को उदयाभावीक्षय कहते हैं।

• आत्मगुणों (पर्यायों) की किंचित् भी अभिव्यक्ति न होने में निमित्त होनेवाले सर्वघाति-स्पर्धकों के उदय के अभाव को उदयाभावीक्षय कहते हैं।

• सर्वघाति स्पर्धक अनंत गुणे हीन हो-होकर अर्थात् उदय के एक समय पूर्व देशघाति स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाति स्पर्धकों का अनंतगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है। इसे ही स्तिबुक संक्रमण कहते हैं।

५०. प्रश्न : सदवस्थारूप उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमान समय को छोड़कर आगामी काल में उदय आनेवाले

कर्मों के सत्ता में रहने को सदवस्थारूप उपशम कहते हैं।

• उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है। **अनंतानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही होता है।**

५१. प्रश्न : घातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों के घात में अर्थात् ज्ञानादि गुणों की पर्यायों के व्यक्त न होने में निमित्त होनेवाले कर्म को घातिकर्म कहते हैं।

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म घातिकर्म हैं।

• यहाँ घाति कर्मों का परिणमन दो प्रकार से है – सर्वघाति व देशघाति।

५२. प्रश्न : सर्वघाति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि गुणों के अर्थात् पर्यायों के पूर्णतः घात में निमित्त होनेवाले कर्म को सर्वघाति कर्म कहते हैं।

५३. प्रश्न : सर्वघाति प्रकृतियाँ कौन-कौनसी और कितनी हैं ?

उत्तर : १. केवलज्ञानावरण, २. केवलदर्शनावरण, ३. निद्रा, ४. निद्रा-निद्रा, ५. प्रचला, ६. प्रचला-प्रचला, ७. स्त्यानगृद्धि, ८-११. अनंतानुबंधी चतुष्क, १२-१५. अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, १६-१९. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, २०. मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय, २१. सम्यग्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय – ये २१ प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं।

५४. प्रश्न : देशघाति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि गुणों के एकदेश अर्थात् अंशतः घात में निमित्त होनेवाले कर्म को देशघाति कर्म कहते हैं।

५५. प्रश्न : देशघाति प्रकृतियाँ कौन-कौनसी और कितनी हैं ?

उत्तर : १. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनःपर्यय-ज्ञानावरण, ५. चक्षुदर्शनावरण, ६. अचक्षुदर्शनावरण, ७. अवधि-दर्शनावरण, ८. सम्यक्त्व-प्रकृति, ९-१२. संज्वलन चतुष्क, १३-२१. हास्यादि नौ नोकषाय, २२. दानान्तराय, २३. लाभान्तराय, २४. भोगान्तराय, २५. उपभोगान्तराय और २६. वीर्यान्तराय – ये २६ प्रकृतियाँ देशघाति हैं।

५६. प्रश्न : अविभागी-प्रतिच्छेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : शक्ति के अविभागी अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते

हैं। अ = नहीं, विभाग = अंश अर्थात् जिसका दूसरा अंश न हो सके, वह अविभागी है। प्रतिच्छेद = शक्ति का अंश।

• द्रव्य में सबसे छोटा परमाणु एवं कालाणु, क्षेत्र की अपेक्षा आकाश का एक प्रदेश, काल की दृष्टि से सबसे छोटा समय और भाव अर्थात् शक्ति की अपेक्षा सबसे छोटा अंश अविभागी प्रतिच्छेद है।

५७. प्रश्न : वर्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर : समान अविभागी-प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं। चूँकि प्रत्येक परमाणु में अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं, इसलिए प्रत्येक परमाणु एक वर्ग है।

५८. प्रश्न : वर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : समान अविभागी-प्रतिच्छेदों से युक्त वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं।

५९. प्रश्न : स्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक-एक अविभागी-प्रतिच्छेद से अधिक वर्गों के समूहरूप वर्गणाएँ जहाँ तक उपलब्ध हों, उन वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

• अनेक प्रकार की अनुभागशक्ति से युक्त कार्माणवर्गणाओं को अर्थात् कर्मसमूह को स्पर्धक कहते हैं।

• सर्वघाति प्रकृति में संपूर्ण स्पर्धक सर्वघाति ही होते हैं, उसमें देशघाति स्पर्धक नियम से नहीं होते। इस कारण से सर्वघाति प्रकृति में कर्म का क्षयोपशम घटित नहीं होता। उदाहरणार्थ – केवलज्ञानावरण कर्म।

• देशघाति प्रकृति में स्पर्धक, सर्वघाति तथा देशघाति दोनों प्रकार के होते हैं। इस कारण से देशघाति कर्मों के उदय-काल में कर्म का क्षयोपशम घटित होता है और जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुण की पर्याय प्रगट होती है। उदाहरणार्थ – मतिज्ञानावरणादि देशघाति कर्म।

६०. प्रश्न : पूर्वस्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के पूर्व पाये जानेवाले स्पर्धकों को पूर्वस्पर्धक कहते हैं।

६१. प्रश्न : अपूर्वस्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणामों के निमित्त से अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को अपूर्वस्पर्धक कहते हैं।

६२. प्रश्न : कृष्टि (अनुकृष्टि) किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के अनुभाग का क्रम से हीन-हीन होने को कृष्टि अथवा अनुकृष्टि कहते हैं। अर्थात् अनुभाग का कृष होना-घटना सो कृष्टि है। यह कृष्टि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणामों के निमित्त से होती है।

६३. प्रश्न : बादरकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपूर्वस्पर्धक से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को बादरकृष्टि कहते हैं। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुभाग घटना - स्थूल खंड होना, सो बादरकृष्टि है।

६४. प्रश्न : सूक्ष्मकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : बादरकृष्टि से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं।

६५. प्रश्न : अनुकृष्टिरचना किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऊपर-नीचे के परिणामों में अनुकर्षण अर्थात् क्रम से हीन-हीन होने को दिखानेवाली रचना विशेष को अनुकृष्टि रचना कहते हैं।

६६. प्रश्न : मार्गणा किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : किन्हीं विशिष्ट पर्यायों अर्थात् भावों के आधार पर जीवों के अन्वेषण अर्थात् खोज को मार्गणा कहते हैं। उसके चौदह भेद हैं - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार।

• मार्गणा प्रकरण में विवक्षित भाव का सद्भाव-असद्भाव दोनों अपेक्षित होते हैं।

६७. प्रश्न : सम्यक्त्वमार्गणा किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन/श्रद्धागुण की मुख्यता से जीवों के अन्वेषण को सम्यक्त्व-मार्गणा कहते हैं।

उसके छह भेद हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, औपशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व। (प्रथम तीन भेदों का स्वरूप तत्संबंधी गुणस्थानरूप ही है; अत: गुणस्थान अध्याय में देखिये।)

''सम्यक्त्व के तो भेद तीन ही हैं। तथा सम्यक्त्व के अभावरूप मिथ्यात्व है। दोनों का मिश्रभाव सो मिश्र है। सम्यक्त्व का घातक भाव

सो सासादन है। इसप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा से जीव का विचार करने पर छह भेद कहे हैं।'' **- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : ३३७**

६८. प्रश्न : औपशमिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्म सन्मुख पुरुषार्थी जीव के पांच, छह या सात प्रकृतियों (दर्शनमोहनीय तीन, अनंतानुबंधी चतुष्क) के उपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

• अनादि मिथ्यादृष्टि के ५ प्रकृतियों का और सादि मिथ्यादृष्टि के ७, ६ या ५ प्रकृतियों का उपशम होता है।

• अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्रगट होता है।

६९. प्रश्न : क्षायोपशमिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं।

• क्षयोपशम- अनंतानुबंधी ४ व मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाति सम्यक् प्रकृति दर्शनमोहनीय का उदय।

७०. प्रश्न : क्षायिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय के समय में होनेवाले तथा भविष्य में अनन्त कालपर्यन्त रहनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन हमेशा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है और भविष्य काल में अनन्त कालपर्यन्त क्षायिकरूप ही रहता है।

७१. प्रश्न : औपशमिकसम्यक्त्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर : दो भेद हैं, प्रथमोपशमसम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व।

७२. प्रश्न : प्रथमोपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'प्रथम' शब्द का अर्थ पहली बार नहीं। अनादि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव को जब भी औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसको प्रथमोपशम-सम्यक्त्व ही कहते हैं।

७३. प्रश्न : द्वितीयोपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के अनंतर श्रेणी चढ़ने के लिए जो औपशमिक सम्यक्त्व होता है, उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

• श्रेणी चढ़ने के सन्मुख सातिशय सप्तम गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज के (अनंतानुबंधीचतुष्क के विसंयोजन तथा) दर्शनमोहनीय त्रिक के उपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व कहते हैं।

७४. प्रश्न : विसंयोजन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनंतानुबंधी चतुष्क के अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषाय और हास्यादि नौ नोकषायकर्मरूप परिणमित होने को विसंयोजन कहते हैं।

• यह विसंयोजना का कार्य चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त के किसी भी एक गुणस्थान में होता है।

७५. प्रश्न : जीव के असाधारण भाव किसे कहते हैं और वे कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में न पाये जानेवाले अर्थात् मात्र जीव में ही पाये जानेवाले भावों को जीव के असाधारणभाव कहते हैं। ये औपशमिक आदि पांच प्रकार के हैं -

१. औपशमिक भाव : निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के मोहनीय कर्म के अंतरकरणरूप उपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले शुद्धभावों को औपशमिकभाव कहते हैं।

२. क्षायिकभाव : निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के कर्मक्षय के समय में होनेवाले एवं भविष्य में अनंत काल पर्यंत रहनेवाले शुद्धभावों को क्षायिकभाव कहते हैं।

३. क्षायोपशमिकभाव : कर्म के क्षयोपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।

४. औदयिकभाव : कर्मोदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को औदयिकभाव कहते हैं।

५. पारिणामिकभाव : पूर्णत: कर्मनिरपेक्ष अर्थात् कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय से निरपेक्ष जीव के परिणामों को पारिणामिकभाव कहते हैं।

७६. प्रश्न : निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पदार्थ स्वयं विवक्षित कार्यरूप तो न परिणमे; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं। जैसे - घट की उत्पत्ति में कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि।

७७. प्रश्न : निमित्त-नैमित्तिक संबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब उपादान स्वत: कार्यरूप परिणमता है, तब भावरूप या अभावरूप किस उचित (योग्य) निमित्त कारण का उसके साथ सम्बन्ध है - यह बताने के लिए उस कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। इस तरह से भिन्न पदार्थों के इस स्वतन्त्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रता का सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है; उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहा है, उसी को उपादान की अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।

७८. प्रश्न : आवली किसे कहते हैं ?

उत्तर : जघन्य युक्त असंख्यात समय-समूह को आवली कहते हैं।

७९. प्रश्न : समय किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक आकाश के प्रदेश से निकटवर्ती अन्य आकाश के प्रदेश पर्यंत मंदगति से गमन करते हुए परमाणु के गमन काल को समय कहते हैं। यह व्यवहार काल का सबसे छोटा अंश है।

८०. प्रश्न : प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक परमाणु से व्याप्त आकाशक्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

• एक प्रदेश में अनंत परमाणुओं को अवगाहन देने की शक्ति है।

८१. प्रश्न : अंतर्मुहूर्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुहूर्त में से एक समय कम शेष काल प्रमाण को भिन्न मुहूर्त कहते हैं। उस भिन्न मुहूर्त में से भी एक समय कम शेष काल प्रमाण को अंतर्मुहूर्त कहते हैं; यह उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है।

• जो मुहूर्त के समीप हो, उसे अंतर्मुहूर्त कहते हैं।

• आवली से अधिक और मुहूर्त से कम काल को अंतर्मुहूर्त कहते हैं।

• एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छवास होते हैं। एक श्वासोच्छवास में

असंख्यात आवली होती हैं। एक आवली+एक समय यह जघन्य अंतर्मुहूर्त है।

उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त से एक समय कम और जघन्य से एक समय अधिक ऐसे मध्यम अंतर्मुहूर्त अंसख्यात होते हैं।

८२. प्रश्न : मुहूर्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : (दो घड़ी)अड़तालीस मिनिट को मुहूर्त कहते हैं।

८३. प्रश्न : पूर्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष काल को पूर्व कहते हैं।

८४. प्रश्न : सागर किसे कहते हैं ?

उत्तर : दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योपम काल को सागर कहते हैं।

८५. प्रश्न : असंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : संख्यातीत कल्पित राशि में से एक-एक संख्या घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है, उस राशि को असंख्यात कहते हैं।

• जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का अर्थात् मति-श्रुतज्ञान का विषय है, उसे संख्यात कहते हैं।

• अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानगम्य संख्या को असंख्यात कहते हैं।

• जिसकी गिनती न हो सके, उसे असंख्यात कहते हैं।

• संख्यातीत राशि को असंख्यात कहते हैं।

८६. प्रश्न : अनंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : असंख्यात के ऊपर केवलज्ञानगम्य संख्या को अनंत कहते हैं।

• नवीन वृद्धि न होने पर भी संख्यात या असंख्यातरूप से कितना भी घटाते जाने पर जिस संख्या का अंत न आवे, उसे अक्षय अनंत कहते हैं।

(• जिस संख्या का अन्त आ जाये, उसे सक्षय अनंत कहते हैं।)

८७. प्रश्न : समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : मूल शरीर को न छोड़कर तैजस-कार्माणरूप उत्तर देह के साथ जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

८८. प्रश्न : समुद्घात कितने और कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : समुद्घात सात प्रकार का होता है - वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली समुद्घात।

८९. प्रश्न : केवली समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने मूल परम औदारिक शरीर को छोड़े बिना आत्म-प्रदेशों के दण्डादिरूप होकर शरीर से बाहर फैलने को केवली समुद्घात कहते हैं।

९०. प्रश्न : केवली भगवान के समुद्घात क्यों होता है ?

उत्तर : आयुकर्म की स्थिति अल्प हो और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु की अपेक्षा अधिक होने पर, अन्य तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अंतर्मुहूर्त करने के लिए केवली भगवान के समुद्घात होता है।

९१. प्रश्न : मारणान्तिक समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व नवीन पर्याय धारण करने के क्षेत्र को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जिन्होंने परभव की आयु बांध ली है, ऐसे जीवों के ही मारणान्तिक समुद्घात होता है।

९२. प्रश्न : अनादि मिथ्यादृष्टि जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिकाल से आज पर्यंत जिस जीव ने मिथ्यात्व का नाश नहीं किया अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं की ऐसे जीव को अनादि मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

९३. प्रश्न : सादि मिथ्यादृष्टि जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक बार सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाने पर भी पुन: पुरुषार्थहीनता से मिथ्यात्वी हो जानेवाले जीव को सादि मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

९४. प्रश्न : योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के ग्रहण में निमित्तरूप जीव के प्रदेशों की परिस्पन्दनरूप पर्याय को योग कहते हैं।

९५. प्रश्न : योग के कितने भेद हैं ?

उत्तर : योग के दो भेद हैं - १. भावयोग, २. द्रव्ययोग।

९६. प्रश्न : भावयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्म-नोकर्म के योग्य पुद्गलमय कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करने में निमित्तरूप आत्मा की शक्तिविशेष को भावयोग कहते हैं।

९७. प्रश्न : द्रव्ययोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : भावयोग के कारण से आत्मा के प्रदेशों का जो सकम्प होना, सो द्रव्ययोग है।

९८. प्रश्न : अन्य अपेक्षा योग के कौन-कौनसे और कितने भेद हैं ?

उत्तर : कषाययोग और अकषाययोग – ये दो भेद हैं।

• आलम्बन की अपेक्षा से मनोयोग, वचनयोग और काययोग – ऐसे तीन भेद होते हैं।

• मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ ऐसे निमित्त की अपेक्षा से १५ भेद भी होते हैं।

• वास्तविकरूप से देखा जाय तो योग एक ही प्रकार का है।

९९. प्रश्न : गमनागमन का क्या अर्थ है ?

उत्तर : गमन का अर्थ जाना, आगमन का अर्थ है आना।

• जीव के एक गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाने-आने के अर्थ में गमनागमन शब्द का प्रयोग किया जाता है। **(गो.क.का. गाथा ५५६ से ५५९)**

१००. प्रश्न : शुभोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन, परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध तथा साधु की श्रद्धा करने में व समस्त जीव समूह की अनुकंपा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है। **(प्रवचनसार गाथा-१५७)**

१०१. प्रश्न : अशुभोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध तथा साधु के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है। **(प्रवचनसार गाथा-१५ की टीका)**

१०२. प्रश्न : शुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : १. जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन परद्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ तथा अशुभरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करता है, वह शुद्धोपयोग है। **(प्रवचनसार गाथा १५९ की टीका)**

२. इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभावतैं ज्ञान ही में उपयोग लागै, ताको शुद्धोपयोग कहिए। सो ही चारित्र है। **(जयचंदजी छाबड़ा मोक्षपाहुड ७२ गाथा)**

३. चित्तनिरोध, शुद्धोपयोग, साम्य, स्वास्थ्य, समाधि और योग ये सर्व शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। **(पद्मनंदि पंचविंशतिका, गाथा-६४)**

४. उपयोगरूप (ज्ञान-दर्शन) वीतरागता को शुद्धोपयोग कहते हैं।

शुद्धोपयोग के संबंध में अत्यंत संतुलित और स्पष्ट निम्न भाव पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के पृष्ठ २८६ पर दिया है –

''करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला (बारहवें क्षीणमोह और ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानवाले) शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे ? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है।

इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर (श्रावक चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती साधक) आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं; तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की; अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा से उसे चौथे, पंचमादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोगी कहा है।''

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ क्रमांक २८५ पर कहा है .....''**धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग।**''

१०३. प्रश्न : शुद्ध परिणति किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुद्ध शब्द का अर्थ मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों से रहित ऐसा वीतरागरूप परिणाम।

• आत्मा के चारित्र गुण की शुद्ध पर्याय को शुद्धपरिणति कहते हैं।

• बुद्धिपूर्वक शुभाशुभ उपयोग के काल में उपयोग रहित चारित्र गुण की वीतराग अवस्था को शुद्ध परिणति कहते हैं।

१०४. प्रश्न : अध:करणादि तीन करण कितने स्थान पर होते हैं ?

उत्तर : औपशमिक एवं क्षायिक सम्यक्त्व के लिए, अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क की विसंयोजना के लिए और चारित्रमोहनीय के २१ प्रकृतियों की उपशमना तथा क्षपणा करने के लिए अध:करणादि तीनों करण होते हैं।

(विशेष खुलासा मिथ्यात्व गुणस्थान के विभाग के अन्त में देखें।)

१०५. प्रश्न : क्या कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के निमित्त से शुद्ध भाव होते हैं अथवा आत्मा के शुद्ध भावों से कर्मों के क्षयादि होते हैं ?

उत्तर : दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं। पहला कथन कर्म की ओर से किया गया है तथा दूसरा कथन जीव के भावों की ओर से किया गया है।

• कर्म के उपशमादि कार्य और जीव के औपशमिकादिक भाव एक ही समय में होते हैं; इसलिए दोनों कथनों का भाव एक ही है।

• वास्तविक देखा जाय तो पुद्गल कर्मों में उत्पाद-व्यय पुद्गल के उपादान से होता है और आत्म-परिणामों में उत्पाद-व्यय आत्मरूप उपादान से होता है। दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं।

• अपराध मात्र जीव का है, पुद्गल अर्थात् कर्म का नहीं। अपराध का अभाव भी जीव ही करता है। इसलिए जीव को ही उपदेश दिया जाता है।

१०६. प्रश्न : विग्रहगति में आत्मा कौन-कौन से गुणस्थानों में होता है ? किन गुणस्थानों के परिणामों के साथ जीव परभव में जाता है ?

उत्तर : प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ गुणस्थान के परिणामों के साथ जीव परभव में जाता है। अर्थात् विग्रह गति में ये तीन ही गुणस्थान होते हैं।

१०७. प्रश्न : कौन से गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती ?

उत्तर : तीसरे, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती। कहा भी है - **मिश्र, क्षीण, सजोग तीन में मरन न पावै।**

• क्षपक श्रेणी के किसी भी गुणस्थान में मरण नहीं होता।

• उपशम श्रेणी के आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में भी मरण नहीं होता।

• पाँचवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व गुणस्थानों में जीव का मरण तो हो सकता है; लेकिन पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत के गुणस्थानों के परिणामों को साथ लेकर विग्रह-गति में नहीं जाता। **मरण होते ही विग्रहगति के प्रथम समय में चौथा गुणस्थान हो जाता है।**

१०८. प्रश्न : संसार में किन-किन गुणस्थानों का विरह नहीं होता ?

उत्तर : पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ और तेरहवाँ इन गुणस्थानों का संसार में कभी भी विरह नहीं होता अर्थात् इन गुणस्थानों में जीव सदा विद्यमान रहते ही हैं।

१०९. प्रश्न : अप्रतिपाति गुणस्थान कौन-कौन से हैं।

उत्तर :बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ एवं क्षपकश्रेणी का आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ ये गुणस्थान अप्रतिपाति हैं। अर्थात् इन गुणस्थानों से जीव नीचे न जाकर ऊपर ही ऊपर चढ़ते हैं। **गिरने का नाम प्रतिपात और नहीं गिरने का नाम अप्रतिपात कहलाता है।**

११०. प्रश्न : गुणस्थान के ज्ञान से क्या लाभ है ?

उत्तर : १) १३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती ही अरहंत भगवान होते हैं। गुणस्थानातीत शुद्ध आत्मा ही सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। इसतरह गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे अर्थात् वीतराग एवं सर्वज्ञ भगवान का पक्का निर्णय होता है।

२) तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान के परम औदारिक शरीर के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है। दिव्यध्वनि से ही यथार्थ तत्त्व स्पष्ट होता है। दिव्यध्वनि का विषय ही सच्चे शास्त्र में लिपिबद्ध रहता है। अत: गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे शास्त्र/तत्त्व की जानकारी प्राप्त होती है।

३) तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता प्रगट करके प्रचुर स्वसंवेदन के आनंद के भोगी ही सच्चे गुरु होते हैं। ऐसे गुरु छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती रहते हैं अथवा ये महापुरुष आठवें गुणस्थान से उपरिम गुणस्थान में भी विराजते हैं। इसलिए गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे साधु का स्पष्ट ज्ञान होता है।

१११. प्रश्न : गुणस्थान के ज्ञान से क्या मात्र देव, शास्त्र, गुरु का ही यथार्थ निर्णय होता है अथवा हमें व्यक्तिगत भी कुछ लाभ होता है ?

उत्तर : क्यों नहीं ? देव-शास्त्र-गुरु के सम्बन्ध में भी जो सच्चा नि:शंक निर्णय एवं यथार्थ प्रतीति होती है, यह भी तो हमें ही व्यक्तिगत लाभ होता है, देव-शास्त्र-गुरु को नहीं।

देव तथा गुरु के गुणस्थान की जानकारी के साथ हमें अपना स्वयं का गुणस्थान कौनसा है ? विराधक गुणस्थान से साधक गुणस्थानों की प्राप्ति अर्थात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होगी ? तथा हमें क्या करना आवश्यक है ? - इन सबका ज्ञान होता है। ❁

अध्याय तीसरा
गुणस्थान विवेचन

गुणस्थान : भूमिका

अनादिकाल से लेकर आजतक अक्षय अनंत सर्वज्ञ भगवान हो गये हैं। अभी वर्तमानकाल में भी विदेहक्षेत्र में लाखों सर्वज्ञ भगवान विद्यमान हैं और भविष्य में भी अनंत जीव सर्वज्ञ भगवान होंगे। उन सर्व अनंतानंत सर्वज्ञ भगवन्तों की अलौकिक दिव्यध्वनि में जो वस्तुस्वभाव का वर्णन आया है, उसे गणधर देव ने चार अनुयोगों में विभक्त किया है; जो क्रमश: इसप्रकार है –

१. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग। चारों अनुयोगों को सरल भाषा में निम्नप्रकार कह सकते हैं –

जिन भव्य जीवों ने द्रव्यानुयोग के अनुसार निज ज्ञायक आत्मा का आश्रय लिया है, उनके ही करणानुयोगानुसार कर्मों के उपशमादि होते हैं। उनका ही बाह्य जीवन चरणानुयोग के अनुसार सदाचारमय हो जाता है और वे ही प्रथमानुयोग के अनुसार महापुरुष कहलाते हैं।

इसतरह द्रव्यानुयोग दीपक है जो सम्यग्ज्ञान को आलोकित कर अन्य तीनों अनुयोगों को प्रकाशित करने में मुख्य भूमिका निभाता है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, दूसरा अध्याय)

अनुयोगों की उपयोगिता –

१. अपने को वीतरागी बनाना हो तो महापुरुषों को आदर्श बनाइये।
२. चित्त में ज्ञान का सौरभ महकाना हो तो कर्मसिद्धान्त को अवलोकिये।
३. अपने जीवन को पवित्र बनाना हो तो महापुरुषों का आचरण अपनाइये।
४. श्रद्धा में नि:शंकता लाना हो तो वस्तुव्यवस्था को जानिये।

यहाँ प्रकृत विषय करणानुयोग है और विवक्षित विषय गुणस्थान संबंधी चर्चा है।

करणानुयोग से लाभ –

१. सूक्ष्म परमाणु आदि, अंतरित राम-रावणादि, दूरवर्ती सुमेरू पर्वतादि पदार्थ का ज्ञाता कोई अवश्य होना चाहिए; क्योंकि वे पदार्थ अनुमान ज्ञान के विषय हैं। **अत: जगत में कोई न कोई सर्वज्ञ अवश्य है – ऐसा निर्णय होता है।**

२. सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म तथापि बुद्धिगम्य पदार्थों का ज्ञान होता है एवं क्रमबद्धपर्याय /क्रमनियमितपर्याय का निर्णय होता है।

३. करणानुयोग के अभ्यास से कषाय की मंदता होती है एवं ज्ञान में निर्मलता आती है।

४. जीवपरिणाम और कर्मबंधादि के निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान होता है और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रांति का नाश हो जाता है।

५. भूमिका के अनुसार होनेवाले परिणामों का और तदनुकूल शुभाशुभ आचरण का विवेक जागृत होता है।

६. यथापदवी निमित्तरूप होनेवाले कर्मों के उपशमादि का सत्य निर्णय हो जाता है। कर्मों की बंध, सत्ता, उदय आदि दस अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

७. भविष्य में होनेवाली अशुद्धता तथा अनिष्ट पर्यायों से बचने की प्रेरणा मिलती है।

८. केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म तथा आश्चर्यकारक विषयों का ज्ञान होने से **सर्वज्ञ भगवान और सर्वज्ञस्वभावी अपने आत्मा की महिमा आती है।**

९. करणानुयोग में वर्णित चौदह गुणस्थानों; चौदह मार्गणा, चौदह, सत्तावन, अट्ठाणवे और चार सौ छह जीवसमासों, करोड़ों कुल, ८४ लाख योनि आदि का ज्ञान होने से **जीवदया का भाव उत्पन्न होता है।** चौंसठ अवगाहना स्थान आदि अनेकानेक **अनुपम विषयों के विशेष ज्ञान से आनंद होता है। (गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा : ७७)**

१०. आत्मस्वरूप को भूलकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषायों के आधीन होने से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप संसार में जीव दु:ख

भोग रहा है । यह जानकर अपने भूतकालीन भ्रम का ज्ञान होने से संसार से भय उत्पन्न होता है; **भोगों की आसक्ति कम हो जाती है एवं वैराग्यभाव पुष्ट होता है ।**

११. नरक-निगोदादि के दु:खों की जानकारी से भी संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्ततारूप मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मंगल बोधपाठ मिलता है और ज्ञायक आत्मा के आश्रय की भावना उत्पन्न होती है।

करणानुयोग के शास्त्र में केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म कथन होने से उसे **अहेतुवाद आगम** भी कहते हैं; क्योंकि इसमें प्रतिपादित प्रत्येक विषय के संबंध में हेतु देना संभव नहीं है। **जैसे –** गुणस्थान चौदह हैं। आप पूछोगे – गुणस्थान चौदह ही क्यों हैं ? तेरह अथवा पंद्रह क्यों नहीं हैं ? इसका उत्तर इतना ही है कि अनंत सर्वज्ञ भगवंतों की दिव्यध्वनि में चौदह गुणस्थानों का ही वर्णन आया है, अत: गुणस्थान चौदह ही हैं। आगमगर्भित युक्ति तो बता सकते हैं; परंतु जैसे द्रव्यानुयोग में बुद्धिगम्य हेतु या तर्क दे सकते हैं, वैसे करणानुयोग में हेतु या तर्क देना शक्य नहीं है।

जैनधर्म परीक्षा प्रधानी है । – यह कथन मात्र द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से है। अन्य तीनों अनुयोगो में केवलीभगवान की आज्ञा की ही मुख्यता है।

प्रथमानुयोग के पुराणों में वर्णित शलाका पुरुष त्रेसठ होते हैं। भरत-ऐरावत क्षेत्र के अवसर्पिणी के चतुर्थ तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। विदेह क्षेत्र में हमेशा भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी के चौथे काल की आदि जैसा काल ही वर्तता है। वहाँ कम से कम बीस तीर्थंकर सदा काल विद्यमान रहते हैं। चक्रवर्ती बारह होते हैं, इत्यादि कथनों की परीक्षा नहीं हो सकती। जैसी भगवान की आज्ञा शास्त्र में लिपिबद्ध है, वैसा ही मानना अनिवार्य है।

करणानुयोग के ग्रन्थों के अनुसार चौदह मार्गणायें, चौदह जीवसमास, मेरू पर्वत, असंख्यात द्वीप एवं समुद्र, नरक-स्वर्ग संबंधी वर्णित दु:ख तथा सुख का स्वरूप – इन सबका आज्ञानुसार ही श्रद्धान करना अनिवार्य है।

चरणानुयोग के शास्त्रों के अनुसार आलू, प्याज, शकरकंद, मूली,

लहसुन आदि जमीकंद के राई जितने टुकड़े में अनंत बादर निगोदिया जीव हैं; अत: वे अभक्ष्य हैं। जीवों की अनन्तता की परीक्षा कैसे संभव है ? यहाँ भी आज्ञा ही शिरोधार्य है। आज्ञानुसार ही इन पदार्थों का त्याग करना हमारा कर्त्तव्य है।

द्रव्यानुयोग के शास्त्रों के अनुसार पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, हितकारी-अहितकारी भाव, बंधमार्ग, मोक्षमार्ग संबंधी सत्य-असत्य का निर्णय अपनी बुद्धि के अनुसार युक्ति/परीक्षा द्वारा कर सकते हैं।

गुणस्थान की परिभाषा जानने के पहले ही हमारे मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है, जो निम्न प्रकार है –

१. प्रश्न : हमें गुणस्थान में प्रवेश करना है या गुणस्थान के ज्ञान में ?

उत्तर : सर्व संसारी जीवों का गुणस्थान में प्रवेश तो अनादि काल से है ही; क्योंकि संसारी जीव गुणस्थान से रहित होता ही नहीं। संसारी जीव किसी ना किसी गुणस्थान में नियम से रहता ही है, भले वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी। मात्र सिद्ध जीव ही गुणस्थान से रहित होते हैं; क्योंकि वे स्वभाव साधना से गुणस्थानातीत हो गये हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्ध जीव वर्तमान काल में गुणस्थानातीत हो गये हैं; परन्तु वे भी पहले संसार अवस्था में गुणस्थानसहित ही थे।

प्रत्येक संसारी जीव भी आत्मस्वभाव की अपेक्षा से तो गुणस्थानातीत, त्रिकाल, शुद्ध, सहजानन्दमय भगवान आत्मा ही है; परन्तु यह अध्यात्म का विषय है, जो यहाँ गुणस्थान के कथन के समय गौण है; त्रिकाली आत्मस्वभाव की यहाँ अभी विवक्षा नहीं है। **जहाँ जिसकी विवक्षा होती है, उसकी ही चर्चा करना विवक्षित विषय समझने के लिये उपयोगी होता है ।**

तात्पर्य यह है कि **सर्व संसारी जीव गुणस्थान सहित ही होते हैं।** इसलिए हमें-आपको गुणस्थान में प्रवेश नहीं करना है; अपितु **गुणस्थान विषयक ज्ञान में प्रवेश करना है ।**

गुणस्थान : परिभाषा

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार गाथा ३ व ८ में गुणस्थान की परिभाषा निम्नप्रकार दी है -

संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।

जेहिं दु लक्खिज्जन्ते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ।।

मोह और योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण की होनेवाली तारतम्यरूप अर्थात् हीनाधिक अवस्था को गुणस्थान कहते हैं।

अनादिकाल से अनंत सर्वज्ञ भगवंतों ने अनंत जीवों के कल्याण के लिए अनंत बार दिव्यध्वनि से परम सत्य/परमार्थ वस्तुव्यवस्था का कथन किया है। उसी का विवेचन आचार्यों ने शास्त्र में लिपिबद्ध किया है। उस वस्तुव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वस्तु, द्रव्य-गुण-पर्यायमय है। इन द्रव्य-गुण-पर्यायों को छोड़कर इस विश्व में अन्य कुछ भी नहीं है।

२. प्रश्न : वस्तुव्यवस्था में यह गुणस्थान क्या है ? द्रव्य, गुण या पर्याय ?

उत्तर : जैनतत्त्वज्ञान की सामान्य जानकारी रखनेवाला मनुष्य भी यह जानता है कि द्रव्य तो जाति अपेक्षा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह ही हैं। उनमें गुणस्थान नाम का कोई द्रव्य नहीं है। द्रव्य की परिभाषा के अनुसार भी गुणस्थान द्रव्य नहीं हो सकता; क्योंकि **गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं -** यह द्रव्य की परिभाषा सर्व विदित है। गुणस्थान, गुणों का समूह नहीं है। अत: यह स्पष्ट हो गया कि गुणस्थान द्रव्य नहीं है।

गुणस्थान, गुण भी नहीं है; क्योंकि ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि जीव द्रव्य के गुण हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। धर्मादि द्रव्यों के भी गतिहेतुत्व आदि गुण हैं। उन गुणों में भी 'गुणस्थान' नाम का कोई गुण आगम में नहीं कहा गया है। गुण की परिभाषा के अनुसार भी गुणस्थान गुण नहीं हो सकता; क्योंकि **जो द्रव्य के संपूर्ण भागों में और उसकी सभी अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।** गुणस्थान किसी भी द्रव्य के संपूर्ण भागों में और उसकी सभी अवस्थाओं में नहीं रहते हैं। इसलिए आगम-प्रमाण तथा तर्क से भी यह निर्णय हो ही जाता है कि गुणस्थान किसी भी द्रव्य का कोई गुण नहीं है।

इसप्रकार यह स्वयमेव सिद्ध हो गया कि गुणस्थान मात्र पर्याय ही है। पर्याय शब्द का अर्थ परिणमन या अवस्था है। ऊपर परिभाषा में **अवस्था को गुणस्थान कहते हैं** - ऐसा आया ही है।

तात्पर्य यह निकला कि गुणस्थान संसारी जीव द्रव्य की ही पर्याय है, सिद्ध जीव द्रव्य की नहीं, तथा पुद्गल, धर्मादि पाँचों अजीव द्रव्य की भी नहीं।

गुणस्थान संसारी जीव द्रव्य की पर्याय निश्चित होने पर भी भेद विवक्षा से गुणस्थान जीव द्रव्य के किन-किन गुणों की पर्याय है, इसकी विशेष चर्चा क्रम से होगी ही।

ग्रंथाधिराज समयसार शास्त्र में तो गुण और पर्यायों के भेदों को गौण करके सामान्य जीव द्रव्य की मुख्यता से चर्चा की है और गोम्मटसार ग्रंथ में द्रव्य और गुणों को गौण करके जीव द्रव्य की विकारी-अविकारी पर्यायों की मुख्यता से वर्णन किया है। अन्य शब्दों में कहा जाय तो समयसार को **त्रिकाली, एक, अखंड, भगवान आत्मा की चर्चा दृष्टि की अपेक्षा से अपेक्षित है और गोम्मटसार को कर्मसापेक्ष पर्याय की चर्चा अपेक्षित है।**

द्रव्य कभी पर्याय को छोड़कर अलग नहीं हो सकता और पर्याय कभी द्रव्य को छोड़कर अलग नहीं हो सकती; यह वास्तविक वस्तुव्यवस्था है। द्रव्य-पर्याय इन दोनों में से मात्र एक का स्वीकार करना तो एकांत मिथ्यात्व है। अत: द्रव्य-पर्यायमय वस्तु का यथार्थ ज्ञान करना प्रत्येक जिज्ञासु मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। यहाँ मुख्यतया गुणस्थानरूप **पर्याय** की चर्चा ही इष्ट है।

परिभाषा में आया हुआ "**अवस्था को**" यह शब्द हमें स्पष्ट बता रहा है कि गुणस्थान पर्याय ही है। "अवस्था को" इस शब्द के पहले '**तारतम्यरूप**' शब्द है। इसका अर्थ होता है हीनाधिकता। **जैसे** अच्छा के लिए अंग्रेजी में **गुड** कहते हैं। अधिक अच्छा के लिए **बेटर** और सर्वोत्तम के लिए **बेस्ट** शब्द का उपयोग करते हैं। **वैसे** ही संस्कृत भाषा में तर एवं तम शब्दों का यथास्थान उपयोग किया जाता है। यहाँ तर तथा तम शब्द का संबंध श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्यायों से है। इन दोनों गुणों की होनेवाली मिथ्या, मिश्र या सम्यक् ऐसी तारतम्यरूप अवस्था अर्थात् पर्याय को गुणस्थान कहते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह तात्पर्य समझना चाहिए कि न जीव द्रव्य को गुणस्थान कहते हैं और न श्रद्धा तथा चारित्र गुणों को। **गुणस्थान तो श्रद्धा और चारित्र गुण की शुद्धाशुद्ध पर्यायों को कहते हैं।** इससे हमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव द्रव्य को छोड़कर पुद्गलादि अन्य द्रव्यों से गुणस्थान का कुछ संबंध नहीं है। जीव द्रव्य के ही मात्र श्रद्धा और चारित्र गुणों से गुणस्थान का साक्षात् संबंध है। इतना ही नहीं, श्रद्धा और चारित्र गुणों से भी सीधा संबंध गुणस्थान का नहीं है। **गुणस्थान का संबंध श्रद्धा तथा चारित्र गुण की अवस्थाओं/पर्यायों अर्थात् परिणामों से है।**

अबतक गुणस्थान विषयक विचार करते समय हमने संसारी जीव द्रव्य, उसके श्रद्धा और चारित्र गुण तथा उनकी होनेवाली पर्यायों का ही विचार किया। संक्षेप में कहा जाय तो मात्र उपादान कारण का ही चिंतन किया। इनमें निमित्त के संबंध में अभी कुछ भी नहीं बताया है; परन्तु निमित्त के संबंध में विचार करना भी आवश्यक है; क्योंकि **कोई भी कार्य निमित्त-उपादान दोनों के योग से होता है।** अत: अब निमित्त का विचार करते हैं।

परिभाषा के प्रारंभ में ही **मोह और योग के निमित्त से** ऐसा जो दो कारणों का उल्लेख किया है, वे दोनों निमित्त कारण ही हैं और 'गुणस्थान' यह कार्य है। जीवद्रव्य के श्रद्धा तथा चारित्र गुण का जो परिणमन होता है **(यह तो उपादान कारण है)** उस परिणमन में मोहनीय कर्म का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा योग **(मन-वचन-काय)** ये दोनों निमित्त कारण हैं।

आचार्य श्री नेमिचन्द्रस्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड की तीसरी गाथा में गुणस्थान की परिभाषा कहते हुए लिखा है - **मोहजोगभवा** अर्थात् मोह और योग से उत्पन्न होनेवाले को गुणस्थान कहते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने मात्र निमित्तभूत कारणों का ही उल्लेख किया है; उपादान कारण को गौण रखा है।

गुणस्थान को ही **संक्षेप, ओघ और जीवसमास** कहते हैं; जो मोह और योग से उत्पन्न होते हैं। निमित्त-प्रधान कथन पद्धति से हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि वक्ता की विवक्षा अभी निमित्त की मुख्यता से कथन करने की है। उपादान कारण को गौण किया है, अत: अभी निमित्तमूलक कथन की अपेक्षा से **मोहजोगभवा** यह परिभाषा सत्य ही है। मात्र यहाँ अविवक्षित विषय को गौण ही रखा गया है।

गुणस्थान के भेद : गुणस्थान के चौदह भेद निम्नलिखित हैं -

१. मिथ्यात्व, २. सासादनसम्यक्त्व, ३. सम्यग्मिथ्यात्व/मिश्र, ४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली।

चौदह गुणस्थानों के नाम क्रमानुसार सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्यश्री नेमिचंद्र रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड की निम्नांकित ९ व १० क्रमांक की गाथाओं में हैं -

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य।।
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीव समासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।।

गुणस्थान : विभाजन

मोह और योग की मुख्यता से गुणस्थानों का विभाजन -

१. पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान पर्यंत चार गुणस्थान दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय-अनुदय की मुख्यता से हैं।

२. पाँचवें से बारहवें गुणस्थान पर्यंत आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उदय-अनुदय की मुख्यता से हैं।

३. तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान और योग के सद्भाव की मुख्यता से है।

४. चौदहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान का सद्भाव और योग के असद्भाव की मुख्यता से है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से गुणस्थानों का विभाजन –

५. अविरत और विरत की अपेक्षा – प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव अविरत ही हैं। पाँचवां गुणस्थान विरताविरत का है। छठवें प्रमत्तविरत से लेकर अप्रमत्तादि ऊपर के सभी गुणस्थानवर्ती जीव विरत ही हैं।

६. अज्ञानी (मिथ्यात्वी) और ज्ञानी की अपेक्षा – प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर दूसरे सासादन गुणस्थानपर्यंत सर्व जीव मिथ्या श्रद्धान के धारक होने से अज्ञानी हैं; क्योंकि उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है। विशेष इतना है कि तीसरे गुणस्थानवर्ती को मिश्र श्रद्धानी एवं मिश्र ज्ञानी भी कहा गया है। **दूसरे-तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव भव्य होने से उनका मोक्ष जाना भी निश्चित ही है।**

अविरतसम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत सर्व जीव नियम से ज्ञानी अर्थात् सम्यग्ज्ञानी/यथार्थ ज्ञानी हैं; क्योंकि ये वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानते हैं, उन्हें निज आत्मा का भी ज्ञान तथा अनुभव है। जो सर्वज्ञ हो गए हैं/अरहंत परमात्मा बन गए हैं; उनके ज्ञान का सम्यक्पना तथा चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक के ज्ञान का सम्यक्पना समान है – इन दोनों के ज्ञान के सम्यक्पने में किंचित् भी अंतर नहीं है। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि भी शास्त्र का यथार्थ वक्ता है। उसका उपदेश भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति में निमित्त कहा गया है।

यहाँ सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञानी अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हैं और चौथे गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्ज्ञानी होने पर भी अल्पज्ञ हैं, यह जो अंतर है; उसे मानना आवश्यक ही है।

७. छद्मस्थ और सर्वज्ञ की अपेक्षा – प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यंत के बारह गुणस्थानवर्ती सर्व जीव नियम से छद्मस्थ ही हैं। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान के धारक मुनिराज भी नियम से छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञ ही हैं।

तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती परमगुरु अर्थात् अरहंत परमात्मा केवलज्ञान के धारक होते हैं; अत: वे सर्वज्ञ ही हैं। सर्वज्ञ जीव पूर्णज्ञानी होते हैं। **क्षायोपशमिक ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता है और केवलज्ञान कभी अपूर्ण नहीं होता;** ऐसा नियम है।

८. श्रावक की अपेक्षा – एकदेश धर्मधारक साधक जीव, अविरत-सम्यक्त्वी और देशविरत गुणस्थानवर्ती जीवों को श्रावक कहते हैं। चौथे गुणस्थानवर्ती असंयमी हैं और पंचमगुणस्थानवर्ती संयमासंयमी हैं।

९. गुरुपद की अपेक्षा – तीनप्रकार का विभाजन हो सकता है –

(१) प्रमत्ताप्रमत्त गुरु – छठवें प्रमत्त एवं सातवें स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थानों में सतत झूलनेवाले भावलिंगी संत प्रमत्ताप्रमत्त गुरु हैं।

(२) अप्रमत्त गुरु – सातवें सातिशय अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानपर्यंत श्रेणी में मोह की उपशमना या क्षपणा करनेवाले ध्यानारूढ़ महामुनिराज अप्रमत्त गुरु हैं।

(३) परमगुरु – तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानों में केवलज्ञानादि क्षायिक पर्यायों से तथा परम औदारिक शरीर सहित शोभायमान परम पवित्र आत्मा, जिसे अरहंत परमात्मा भी कहते हैं; वे परमगुरु हैं।

१०. श्रेणी की अपेक्षा – श्रेणी दो प्रकार की है, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी।

उपशमश्रेणी के (१) अपूर्वकरण (२) अनिवृत्तिकरण (३) सूक्ष्म-साम्पराय (४) उपशांतमोह ये चार गुणस्थान हैं। उपशमक मुनिराज चारित्र-मोहनीय का उपशम करते हैं और उपशांत मोह गुणस्थान से नियम से नीचे गिरते हैं।

क्षपकश्रेणी के (१) अपूर्वकरण (२) अनिवृत्तिकरण (३) सूक्ष्मसाम्पराय और (४) क्षीणमोह ये चार गुणस्थान हैं। क्षपक मुनिराज चारित्र मोहनीय का

नियम से क्षय करके केवली भगवान होकर सिद्ध हो जाते हैं।

११. प्रमत्त तथा अप्रमत्त भाव की अपेक्षा – मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यंत छहों गुणस्थानवर्ती सर्व जीव नियम से प्रमत्तभाव सहित हैं। अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत के सर्व आठों गुणस्थानवर्ती मुनिराज अप्रमत्तभाव सहित हैं।

१२. योग और अयोग की अपेक्षा – प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत के तेरह गुणस्थानवर्ती सर्व जीव सयोगी हैं और मात्र चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती अरहंत परमात्मा ही अयोगी हैं।

१३. रागी और वीतरागी की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं –

(१) मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र पर्यंत तीनों गुणस्थानवर्ती जीव, वीतरागभाव से रहित मात्र रागादि परिणामवाले हैं, मोक्षमार्ग के विराधक हैं।

(२) चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यंत के सातों गुणस्थानवर्ती जीव राग तथा वीतरागरूप मिश्र परिणामों के धारक साधक जीव हैं।

(३) ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतमोह से लेकर अयोगकेवली पर्यंत के चारों गुणस्थानवर्ती सर्व महापुरुष नियम से पूर्ण वीतराग परिणाम के धारक ही होते हैं।

१४. दु:ख और सुख की अपेक्षा से चार प्रकार का विभाजन –

(१) मिथ्यात्व से मिश्र गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव नियम से दु:खी ही हैं; क्योंकि मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम से जीव को दु:ख ही भोगना पड़ता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप के ज्ञान से ही सुख की प्राप्ति होती है।

(२) चौथे अविरतसम्यक्त्व नामक गुणस्थान से दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यंत सात गुणस्थानवर्ती साधक जीव कथंचित् दु:खी भी हैं और कथंचित् सुखी भी हैं। कषाय के सद्भाव के कारण यथासंभव दु:ख है और यथायोग्य कषाय के अभाव से उत्पन्न वीतरागता से यथासंभव सुख भी है।

(३) सत्ता रहते हुए भी कषाय का सर्वथा उदय का अभाव ग्यारहवें उपशांतमोह में तथा सत्ता और उदय की अपेक्षा से भी सर्वथा अभाव बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। अत: ये वीतरागी मुनीश्वर पूर्ण अतीन्द्रिय सुखी हैं।

(४) तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानों में पूर्ण वीतरागता के साथ केवलज्ञान भी रहता है। इसलिये इन दोनों गुणस्थानों में सुख अनंतरूप से परिणमित होता है; अत: अरहंत भगवान अनंत सुखी हैं।

१५. बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की अपेक्षा भेद –

(१) मिथ्यात्व से तीसरे मिश्र गुणस्थान पर्यंत तीनों गुणस्थानवर्ती सर्व जीव बहिरात्मा ही हैं। इन्हें दु:खी, अज्ञानी, विराधक और संसारमार्गी ही जानना चाहिए।

(२) चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यंत नौ गुणस्थानवर्ती सर्व जीव अंतरात्मा हैं। ये सर्व सम्यग्ज्ञानी, साधक, मोक्षमार्गी और यथापदवी सुखी हैं।

(३) तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोग-अयोगकेवली जिनेंद्रों को परमात्मा कहते हैं। ये केवलज्ञानी अनंत सुखी तो हैं ही और शीघ्र ही सिद्ध परमात्मा होकर अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करनेवाले हैं।

१६. अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी, शुद्धोपयोगी की अपेक्षा – मिथ्यात्व से तीसरे मिश्र गुणस्थान पर्यंत तीनों गुणस्थानवर्ती जीव मुख्यत: अशुभोपयोगी हैं। चौथे से लेकर छठवें गुणस्थान पर्यंत के तीनों गुणस्थानवर्ती जीव मुख्यत: शुभोपयोगी और चौथे, पाँचवें गुणस्थानवर्ती गौणरूप से शुद्धोपयोगी भी हैं।

सातवें से बारहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव बढ़ते हुए शुद्धोपयोगी हैं एवं तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल है। एक अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत के ग्यारह गुणस्थानवर्ती सर्व जीव **धर्मात्मा** ही कहलाते हैं।

१७. धार्मिक-अधार्मिक की अपेक्षा – मिथ्यात्व से लेकर तीसरे मिश्र गुणस्थान पर्यंत तीन गुणस्थानवर्ती सर्व जीव अधार्मिक ही हैं। चौथे अविरतसम्यक्त्व से लेकर चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानपर्यंत ग्यारह

गुणस्थानवर्ती सर्व जीव धार्मिक ही हैं; क्योंकि उनके जीवन में रत्नत्रयरूप धर्म होता है। इनको क्रम से **अयथार्थ पुरुषार्थी और यथार्थ पुरुषार्थी** भी कह सकते हैं।

१८. मिथ्या-सम्यक्चारित्र की अपेक्षा - मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र तीनों गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्याचारित्रवान हैं; क्योंकि ये जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते। चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानपर्यंत के सर्व जीव सम्यक्चारित्रवान होते हैं; क्योंकि ये सर्व जीव सम्यग्दृष्टि हैं। जहाँ श्रद्धा सम्यक् हुई वहाँ ज्ञान एवं चारित्र नियम से सम्यक् अर्थात् यथार्थ ही होते हैं।

इसप्रकार मोह तथा योग के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से लेकर मिथ्या तथा सम्यक् चारित्र की अपेक्षा पर्यंत अठारह अपेक्षाओं से गुणस्थानों का विभाजन हो सकता है।

३. प्रश्न : हम अभी वर्तमान में किस गुणस्थान में हैं, यदि यह जानना चाहें तो कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर : ''अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी अनादिनिधन वस्तु आप है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित जिनका नवीन संयोग हुआ ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं; इनके संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य-तिर्यंचादिक पर्यायें होती हैं - उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता, जो पर्याय प्राप्त करे उस ही को आपरूप मानता है।

तथा उस पर्याय में ज्ञानादिक हैं वे तो अपने गुण हैं और रागादिक हैं वे अपने को कर्मनिमित्त से औपाधिकभाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं वे शरीरादिक पुद्गल के गुण हैं और शरीरादिक में वर्णादिकों का तथा परमाणुओं का नानाप्रकार पलटना होता है, वह पुद्गल की अवस्था है; सो इन सब ही को अपना स्वरूप जानता है, स्वभाव-परभाव का विवेक नहीं हो सकता।

तथा मनुष्यादिक पर्यायों में कुटुम्ब-धनादिक का सम्बन्ध होता है, वे प्रत्यक्ष अपने से भिन्न हैं तथा वे अपने अधीन नहीं परिणमित होते तथापि उनमें ममकार करता है कि ये मेरे हैं। वे किसी प्रकार भी अपने होते नहीं, यह ही अपनी मान्यता से ही अपने मानता है। तथा मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादिक का या तत्त्वों का अन्यथा स्वरूप जो कल्पित किया उसकी तो प्रतीति करता है; परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसी प्रतीति नहीं करता।''

इसप्रकार पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने दर्शनमोह के उदय से होनेवाले जीव के परिणामों का वर्णन मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३८ पर किया है। इसके आधार से पात्र जीव अपने स्थान का निर्णय लेने का निम्नानुसार प्रयास कर सकता है -

सर्वप्रथम हमें स्व-आत्मा और पर देहादि का लक्षण-भेद से यथार्थ निर्णय कर अपने शुभ-अशुभ तथा शुद्ध परिणामों को जानना चाहिए। इसके लिए आगम का अभ्यास, युक्ति का अवलम्बन और परम्परा गुरु के उपदेश का आधार लेकर निर्णय करना चाहिए।

१. हम तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती प्रगट परमात्मा हैं; ऐसा भ्रम होने का तो किसी को अवकाश ही नहीं; क्योंकि अपने में से कोई न तो वीतरागी है, न सर्वज्ञ है और न अनंत सुखी भी।

२. जो वस्त्रों का त्याग नहीं कर पाया हो अर्थात् दिगंबर साधु अवस्था को स्वीकार नहीं किया हो, वह छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो है ही नहीं; यह भी स्पष्ट निर्णय है।

३. अब केवल प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम विरताविरत गुणस्थान पर्यंत पांच गुणस्थानों में अपने गुणस्थान को खोजने की बात शेष रह जाती है।

यदि जीवन में अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत - इन बारह प्रकार के श्रावकोचित व्रतों का बुद्धिपूर्वक स्वीकार ही न हो तो पाँचवां विरताविरत गुणस्थान भी नहीं है। यह विषय भी हमारी समझ में आ ही रहा है।

यदि कदाचित् किसी ने बाह्य में अणुव्रत आदि को भी स्वीकार किया हो और आत्मानुभूति/सम्यग्दर्शनपूर्वक अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागतारूप आनंद (सुख, धर्म, संवर, निर्जरा, मोक्षमार्ग) का अनुभव किसी को

होता हो तो पाँचवां संयतासंयत गुणस्थान है; ऐसा नि:संकोच समझ लेना चाहिए।

४. यदि मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ही नि:शंक श्रद्धा हो, जीवन में सातों व्यसनों में से कोई व्यसन न हो; अन्याय, अनीति, अभक्ष्य का त्याग हो; जीवन में आगम कथित अष्टमूलगुणों का सहजरूप से पालन हो और मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय परिणाम के अभावपूर्वक आत्मानुभूतिरूप अतींद्रिय आनन्द का स्वाद किसी के जीवन में आता हो तो अपने को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

यदि देव-शास्त्र-गुरु का भी आगमानुसार लक्षण दृष्टि से यथार्थ और हार्दिक निर्णय न हो तो उसे सम्यक्त्व प्रगट करने की पात्रता ही नहीं है; तब फिर सम्यक्त्व होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। उसे आगम में तीव्र पापी, अज्ञानी और मूढ अर्थात् मूर्ख कहा है।

४. प्रश्न : इस विवेचन से हम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती हैं, ऐसा लग रहा है; ऐसी स्थिति में हमें सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए?

उत्तर : मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं चाहते हो तो मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यग्दृष्टि होने के लिए सात तत्त्वों का हेय, ज्ञेय तथा उपादेय बुद्धि से यथार्थ निर्णय करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यह भी एक अपेक्षा समझ लेना चाहिए कि चिंता करने की कुछ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जीवन में सच्चा निर्णय होना भी बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का पृष्ठ क्रमांक ३१२ का निम्न अंश देखें – ''तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शन मोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसीसे दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्त्तव्य कुछ नहीं है।

तथा उसके होने पर जीव के स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है। और सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धान तो यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना;' परन्तु चारित्रमोह के उदय से रागादिक होते हैं। वहाँ तीव्र उदय हो तब तो विषयादि में प्रवर्तता है और मन्द उदय हो तब अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में व वैराग्यादि भावना में उपयोग को लगाता है; उसके निमित्त से चारित्र मोह मन्द हो जाता है; – ऐसा होने पर देशचारित्र व सकलचारित्र अंगीकार करने का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

तथा चारित्र को धारण करके अपने पुरुषार्थ से धर्म में परिणति को बढ़ाये वहाँ विशुद्धता से कर्म की शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है और उस कर्म की शक्ति अधिक हीन होती है।

इसप्रकार क्रमसे मोह का नाश करे तब सर्वथा परिणाम विशुद्ध होते हैं, उनके द्वारा ज्ञानावरणादिक का नाश हो तब केवलज्ञान प्रगट होता है। पश्चात् वहाँ बिना उपाय अघाति कर्म का नाश करके शुद्ध सिद्धपद को प्राप्त करता है।''

यदि कोई जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती हो और भ्रम से अपने को सम्यग्दृष्टि अथवा पंचमादि गुणस्थानवर्ती मानता हो तो वह मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकता; दुर्लभ मनुष्य जीवन भ्रम में व्यर्थ निकल जाता है।

यदि यथार्थ निर्णय होता तो अच्छा ही है; उससे डरने की बात ही क्या है ? सच्चे उपाय का अवलंबन लेना श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर है।

५. प्रश्न : मिथ्यात्व गुणस्थान के अभाव करने का सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर : जिनेंद्र कथित तत्त्वानुसार सदाचारी जीवनयापन करते हुए प्रथम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ ज्ञान करो। पश्चात् अध्यात्म शास्त्र के अध्ययन से आत्मस्वभाव का निर्णय करना। जिसे एक बार निज शुद्धात्मा का निर्णय हो जाता है, वह व्यक्ति स्वयमेव सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट करने की कला भी समझ लेता है। निज शुद्धात्म स्वभाव का स्वीकार होना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करने का सच्चा-सरल

तथा सुगम एवं एकमात्र उपाय है।

६. प्रश्न : मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी का नाश भी तो करना चाहिए ना ?

उत्तर : आपका यह कहना व्यवहारनय की अपेक्षा से सत्य ही है। **वास्तविकरूप से विचार किया जाए तो त्रिकाली निज शुद्धात्मा का आश्रय लेने पर मिथ्यात्वादि कर्मों का नाश तो स्वयमेव हो ही जाता है; उसमें जीव को कुछ करना नहीं पड़ता।** ज्ञानावरणादि कर्म तो पुद्गल की पर्याय है; उसमें तो जीव कुछ कर ही नहीं सकता।

तत्त्वनिर्णय करना, अपनी श्रद्धा को यथार्थ रीति से सम्यक्‌रूप परिणमित करना और निज शुद्धात्मा में रमणतारूप चारित्र प्रगट करना – ये तो जीवद्रव्य की अवस्थायें हैं, उन्हें जीव कर सकता है; क्योंकि ये कार्य जीव की सीमा में आते हैं। अन्य जीवों की अवस्थायें और पुद्गलादि द्रव्यों की अवस्थाएँ जीव की सीमा में नहीं आते। अत: उनमें जीव कुछ भी नहीं कर सकता।

७. प्रश्न : जब यहाँ गुणस्थान की चर्चा प्रारंभ की है तो बीच-बीच में यह आत्मा की चर्चा क्यों/कहाँ से आ जाती है ? सीधी करणानुयोग सापेक्ष बात करो न ?

उत्तर : भाई ! आप भी थोड़ा शांति से सोचो न ! तुम्हें आत्मा की चर्चा से इतनी अरुचि क्यों है ? अरे ! गुणस्थान भी तो आत्मा के ही होते हैं। हम तो सोच-विचार कर ही कह रहे हैं। अनुयोग के अनुसार कथन तो होगा ही; इसमें हमारा आपसे अथवा अन्य किसी से कुछ भी मतभेद नहीं है। कथन-पद्धति के कारण से केवलज्ञान प्रणीत शास्त्र चार अनुयोगों में विभक्त है; **चारों अनुयोगों का तात्पर्य एक वीतरागता ही है। (पंचास्तिकाय, गाथा-१७२)** सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पुरुषार्थ तो मुख्यता से एक द्रव्यानुयोग में कथित **निज शुद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा के आश्रय से ही होता है।**

भिन्न-भिन्न अनुयोगों के अनुसार धर्म प्रगट करने का पुरुषार्थरूप उपाय भिन्न-भिन्न नहीं है, एक ही है और वह है त्रिकाली **निज शुद्धात्मा का आश्रय करना।** ......''करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करें तो

हो नहीं सकता। करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बताने का मुख्य प्रयोजन है। ..... आप कर्मों के उपशमादि करना चाहें तो कैसे होंगे ? **आप तो तत्त्वादि का निश्चय करने का उद्यम करें। उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं...... । (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२७७)**

८. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के पूर्व करणलब्धि तो चाहिए ना ? आप तो उसकी बात ही नहीं करते ?

उत्तर : हाँ ! करणलब्धि चाहिए; यह आपका कहना ठीक है।

सम्यग्दर्शन के पूर्व क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण - ये पाँचों लब्धियाँ अवश्य होती हैं; इनमें करणलब्धि साधकतम होती है। अर्थात् करणलब्धि प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रगट होता ही है। ऐसा नियम अन्य चारों लब्धियों के साथ नहीं है। इस करणलब्धि के प्राप्ति का उपाय भी **एक त्रिकाली निज शुद्धात्मा का आश्रय लेना ही है,** अन्य नहीं।

यही उपाय मोक्षमार्ग/रत्नत्रय की प्राप्ति का है। **जैसे** बिल्ली को कोई कैसे भी जमीन पर फेंके, वह नियम से अपने चारों पैरो पर ही खड़ी होती है; वैसे ही **चारों अनुयोगों में से किसी भी अनुयोग को पढ़ो, सभी में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय मात्र निज भगवान आत्मा का आश्रय करना ही बताया है।** ❀

ऐसा विचार किया कि...

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादि-तत्त्वों के तथा निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-७, पृष्ठ-२५७

१

मिथ्यात्व गुणस्थान

पहले गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व है।

यह मिथ्यात्व गुणस्थान प्रत्येक जीव को अनादिकाल से स्वयंसिद्ध है। वर्तमान में सिद्धालय में विराजमान जितने भी परमपूज्य सिद्ध भगवान हैं, वे सर्व भूतकाल में इस मिथ्यात्व गुणस्थान में ही थे। इस मिथ्यात्व का नाश करके ही रत्नत्रय की साधना के बल से वे सब सिद्धालय में पहुँचे हैं।

नये अपराध के बिना ही जीव अनादिकाल से ही विपरीत श्रद्धानी है; परंतु यह जीव चाहे तो वर्तमान में अपने पुरुषार्थ से विपरीत श्रद्धादि का परिहार कर सकता है। उल्टी मान्यता का त्याग करना, इस मनुष्य के हाथ में है। उल्टी मान्यता, विपरीत श्रद्धा, मिथ्यात्व, संसारमार्ग, दुःखमार्ग – इन सब का अर्थ एक ही है।

९. प्रश्न : मिथ्यात्व दशा में जीव के भाव कैसे होते हैं ? यह स्पष्ट कीजिए, जिससे मिथ्यात्व का सही स्वरूप हम समझ सकें और उसका त्याग कर सकें।

उत्तर : अज्ञानी जीव अनादिकाल से ही विपरीत मान्यता को यथार्थ मानकर मिथ्यात्व को ही सतत पुष्ट कर रहा है तथा सत्समागम एवं सत् शास्त्र का अध्ययन न करने से अपनी गलती का भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं है। अत: मिथ्यात्व छोड़ने तथा छुड़ाने के अभिप्राय से यहाँ सुबोध शब्दों में मिथ्यात्व परिणाम को स्पष्ट करते हैं।

१. वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी सच्चे देव को छोड़कर अन्य मोही रागी-द्वेषी देव-देवियों को सच्चा देव मानना; सर्वज्ञकथित सत् शास्त्र से विपरीत शास्त्र को यथार्थ शास्त्र मानना; छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी दिगम्बर मुनिराज को छोड़कर अन्य भेषधारकों को गुरुपने से स्वीकार करना, यह सब गृहीतमिथ्यात्व है।

२. अपने से सर्वथा भिन्न धन, धान्य, दुकान, मकान, पुत्र, मित्र, कलत्रादि में एकत्वबुद्धि को एवं सात तत्त्वों में विपरीत मान्यता को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

३. हम जीव हैं, तथापि जीव से सर्वथा भिन्न जड़स्वभावी शरीर को अपना माननेवाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं।

४. जीव ज्ञानानंदस्वभावी होने पर भी उसे क्रोधादि स्वभावमय मानना मिथ्यात्व है।

५. जीव अनादि से ही अमूर्तिक एवं ज्ञानानन्दस्वभावी होने पर भी उसे मूर्तिक, अचेतन, मनुष्यादिरूप मानना मिथ्यात्व है। अपने को भूल करके शरीरादि पर पदार्थों में अहंकार, ममकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भ्रमभाव रखना – ये सब मिथ्यात्व के चिह्न हैं।

६. (i) पुण्य-पाप भाव को धर्म मानना। (ii) मैं पर जीवों को मार सकता हूँ अथवा बचा सकता हूँ। (iii) पर जीव मुझे मार सकते हैं अथवा बचा सकते हैं। (iv) मैं अन्य जीवों को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ अथवा अन्य जीव मुझे सुखी-दुःखी कर सकते हैं अथवा मेरा अकल्याण कर सकते हैं। (v) देव व गुरु मेरा कल्याण व अकल्याण भी कर सकते हैं। (vi) विश्व के कुछ पदार्थ अच्छे हैं अथवा कुछ पदार्थ बुरे हैं – इसतरह के सर्व अज्ञानजनित विचार नियम से तीव्र मिथ्यात्वरूप ही हैं; क्योंकि ये सब वस्तुस्वरूप से विरुद्ध हैं।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र स्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १५ में मिथ्यात्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है –

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं।।

दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

जीव के मिथ्यात्व परिणाम में दर्शनमोहनीय कर्म के तीन अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृतिरूप भेदों में से मिथ्यात्व-

दर्शनमोहनीय नामक द्रव्यकर्म का उदय नियम से निमित्तरूप रहता है अर्थात् जब जीव मिथ्यात्व परिणाम से परिणमित होता है, तब मिथ्यात्व कर्म का उदय निमित्तरूप रहता ही है; इसलिए मिथ्यात्वभाव को औदयिकभाव भी कहते हैं; लेकिन मिथ्यात्व कर्म जीव को मिथ्यादृष्टि बनाता है/कराता है – ऐसा नहीं है। कर्म का उदय तो निमित्त मात्र ही है, **अपराध तो स्वयं जीव का ही है।**

आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने 'समयसार शास्त्र की' गाथा १३२ में **जीव के अपराध का बोध कराते हुए** स्पष्ट शब्दों में कहा है –

''जीवों के जो तत्त्व का अज्ञान है (वस्तुस्वरूप से अयथार्थ अर्थात् विपरीत ज्ञान) वह अज्ञान का उदय है और **जीव के जो तत्त्व का अश्रद्धान है; वह मिथ्यात्व का उदय है।**''

जब जीव अपना अपराध देखेगा/जानेगा तो अपने अपराध को दूर करने का प्रयास करेगा। अत: जो आत्मा अपना दोष स्वीकार करता है; वही पुरुषार्थ कर सकता है/करता है। **जो कर्मों का ही दोष जानता/मानता रहेगा, वह आत्मा स्वावलंबनरूप सम्यक् पुरुषार्थ कभी कर नहीं सकेगा।**

जो जीव, आत्मा में होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि विकारी भावों की उत्पत्ति में कर्मों के उदय को निमित्तरूप से भी नहीं मानता, उसकी मान्यता के अनुसार विभाव ही जीव का स्वभाव हो जायेगा और जो यह मान लेता है कि कर्म ही विकार का कर्ता है, आत्मा नहीं, वे भी कर्मों के ही आधीन हो गये। ऐसे जीव सर्वज्ञ भगवान के उपदेश का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण ज्ञानी नहीं हैं।

अत: जीव स्वयं मिथ्यात्व तथा क्रोधादि विभाव भावों को करनेवाला अपराधी है। हाँ, जब जीव अपराध करता है, तब कर्म का उदय उसमें निमित्त होता है, यही सत्य मान्यता है, यही उपादानमूलक कथन है।

शास्त्रों में जहाँ निमित्त की मुख्यता होती है, वहाँ **मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है,** ऐसा कथन जिनवाणी में मिलता है। प्रथमानुयोग आदि तीन अनुयोगों में उपादान की मुख्यता से किये गये

कथन अति अल्प हैं और निमित्त की मुख्यता से किये गये कथन बहुत अधिक हैं। इसलिए अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि निमित्त अर्थात् कर्म ही जीव को बलजोरी/जबरदस्ती से विकार कराता है।

जीव अपने विकारी अथवा अविकारी परिणामों को करने में पूर्ण स्वतंत्र है, स्वाधीन है। आत्मा बलवान है, कर्म बलवान नहीं है; इस महत्त्वपूर्ण विषय को यहाँ प्रथम गुणस्थान के प्रकरण में ही विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर देते हैं, जिससे आगे के सभी गुणस्थानों में यथास्थान यथायोग्य समझ लेना सुलभ हो जाएगा।

करणानुयोग की पद्धति निमित्त की मुख्यता से कथन करने की होती है। अत: उसकी भाषा ही ऐसी होती है कि ''मिथ्यात्व कर्म के उदय से/निमित्त की बलवत्ता से ही मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।'' ध्यान रहे, **निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा कथन तो होता है, कार्य नहीं होता है।** कोई भी कर्म किसी भी जीव को जबरदस्ती से क्रोधादि विकारभाव नहीं कराता है। **सदा विकाररूप अधर्म और अविकाररूप धर्म करने में जीव पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है, कर्माधीन नहीं है।**

जब कर्म के उदय से जीव, नीचे के गुणस्थानों में गया या विकारी हो गया; ऐसा कथन पढ़ने में व सुनने में आवे तो समझ लेना चाहिए कि जीव अपने अनादि-कालीन कुसंस्कारों के कारण पुरुषार्थहीनता से ही पतित हुआ है, कर्म ने कुछ नहीं किया। मात्र उस काल में कर्म का उदय उपस्थित था।

जब कर्म के अभाव से वीतरागता बढ़ गयी, जीव ने ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त किया; ऐसा कथन मिले तो वहाँ यह समझना चाहिए कि जीव ने स्वभाव के आश्रयरूप विशिष्ट पुरुषार्थ से नया विशेष धर्म प्रगट किया है।

भेद – एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान – ये मिथ्यात्व के पांच भेद हैं। मिथ्यात्व के पाँचों भेदों की परिभाषायें संक्षेप में निम्नप्रकार हैं –

(१) जाति की अपेक्षा से जीवादि छह द्रव्य अथवा संख्या की अपेक्षा से अनंतानंत द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य अनंत धर्मात्मक होने पर अथवा परस्पर विरोधी दो धर्मात्मक होने पर भी उन्हें मात्र एक धर्मात्मक मानना, **एकांत मिथ्यात्व है। जैसे** – द्रव्य नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है।

(२) पुण्य व शरीरादि की क्रियाओं से ही मोक्ष होता है – ऐसा मानना **विपरीत मिथ्यात्व** है।

(३) सब यथार्थ तथा अयथार्थ देव-शास्त्र-गुरु हमारे लिए वंदनीय हैं, उनकी पूजा, भक्ति, विनय करना चाहिए; ऐसा मानना **विनय मिथ्यात्व** है।

(४) वीतरागता धर्म है या पुण्य धर्म है, ऐसे दोनों प्रकार के कथनों में से किसी भी एक पक्ष का निश्चय न होना; **संशय मिथ्यात्व** है।

(५) न स्वर्ग है, न नरक है, न पाप है, न पुण्य है – इसलिए खाओ, पिओ, मजे में रहो; ऐसी मान्यता का नाम **अज्ञान मिथ्यात्व** है।

२. अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व ऐसे दो भेद मिथ्यात्व के हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदय के निमित्त से सातों तत्त्वों के विषय में अनादिकालीन विपरीत मान्यता को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। **जैसे –** अनादिकाल से काया में आत्मबुद्धि और पुण्य में धर्मबुद्धि।

(१) अगृहीत मिथ्यात्व का नाश करने के लिए जड़-चेतन और स्वभाव-विभाव के भेदज्ञानपूर्वक निज शुद्धात्मस्वभाव का ज्ञान तथा भान होना अत्यंत आवश्यक है। **वास्तव में तो निर्विकल्प रीति से निज शुद्धात्मा का स्वीकार होना ही सम्यक्त्व की प्राप्ति का अर्थात् मिथ्यात्व के त्याग का एकमेव तथा यथार्थ उपाय है।**

(२) अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व का पोषक कुदेव-कुगुरु व कुधर्म का सेवन गृहीत मिथ्यात्व है। **जैसे –** अपनी मतिकल्पना से रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को कल्याणकारक मान लेना।

इन दोनों में से प्रथम गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है; क्योंकि नवीन अर्जित स्थूल अर्थात् गृहीतमिथ्यात्व के त्याग के बिना अगृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटता एवं अनादि सूक्ष्म अगृहीत मिथ्यात्व के त्याग के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। सम्यक्त्व से ही धर्म का प्रारंभ होता है।

गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करना मनुष्य के अपने आधीन है; क्योंकि उसको उसने अपने अज्ञान भाव से ही स्वीकार किया है। अत: अपने ज्ञान भाव से मनुष्य गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ भी सकता है।

रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को अपना हितकारक या अहितकारक मान लेना अपनी ही अज्ञानता का प्रदर्शन है। तर्कशील व्यक्ति गृहीत मिथ्यात्व को सहज ही छोड़ सकता है।

३. क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक के भेद से भी मिथ्यात्व के चार भेद हैं, इनके ही उत्तर भेद ३६३ हैं।

मिथ्यात्व का शब्दार्थ – मिथ्यात्व शब्द का अर्थ है विपरीतता, असत्यपना। **श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र गुण के विपरीत परिणमन को ही यहाँ मिथ्यात्व कहा है। विपरीत शब्द का अर्थ उल्टा अर्थात् वस्तुस्वरूप से विरुद्ध है।** प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं, उनमें से मोक्षमार्ग में श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र ये तीन गुण ही मुख्य माने गये हैं; क्योंकि इनमें सम्यक्पना होने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और इनके ही विपरीत परिणमन से अज्ञानी को अनादि काल से संसारमार्ग वर्त रहा है।

जहाँ अकेले ही श्रद्धागुण का सम्यक् परिणमन हुआ, वहाँ अन्य ज्ञान, चारित्र इन दोनों गुणों का अथवा अनंत गुणों का भी नियम से सम्यक् परिणमन हो जाता है। इसी भाव को मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ के सातवें अध्याय के मंगलाचरण में स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है –

इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव।।१।।

इस दोहे में प्रयुक्त मिथ्याभाव शब्द मिथ्यात्व के ही अर्थ में आया है; जो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र – इन तीनों गुणों की विपरीतता को प्रकाशित करता है। इसीप्रकार सम्यक्त्व शब्द भी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र तीनों गुणों के सम्यक् परिणमन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

इस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चारित्र गुण का परिणमन नियम से विपरीत ही होता है; अत: यहाँ मिथ्याचारित्र ही है। श्रद्धा गुण के विपरीत परिणमन के कारण से ही चारित्र गुण का परिणमन विपरीत होता है। इसका अर्थ श्रद्धा गुण का विपरीत परिणमन निमित्त और चारित्र गुण का विपरीत परिणमन नैमित्तिक। इस अपेक्षा से यह कथन सत्य होने पर भी मात्र मिथ्या श्रद्धा ने ही चारित्र को मिथ्या नहीं बनाया है।

मिथ्याचारित्र के परिणमन में उपादान कारण चारित्र गुण की अपनी स्वयं की तत्समय की योग्यता भी वैसी ही होती है। जैसे – चारित्र गुण के संबंध में कहा है, वैसे ही ज्ञानादि सभी गुणों के परिणमन में भी समझ लेना चाहिए।

काल अपेक्षा विचार – मिथ्यात्व का काल इसका अर्थ है, जितने समय पर्यंत जीव मिथ्यादृष्टि बना रहता है, वह मिथ्यात्व का काल है।

१. जघन्य काल – मिथ्यात्व का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त तभी बन सकता है, जब कोई सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है और अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत मिथ्यात्व परिणाम के साथ जीवन बिताकर पुन: सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस अंतर्मुहूर्त काल को मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य काल कहते हैं।

इस गुणस्थान में कोई जीव एक, दो आदि समय से लेकर संख्यात, असंख्यात समय पर्यंत रहता ही नहीं। यदि मिथ्यात्व में आया है तो उसे कम से कम एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत रहना अनिवार्य है; क्योंकि मिथ्यात्व से छूटकर पुन: सम्यक्त्व प्राप्त करने में कम से कम एक अंतर्मुहूर्त काल का पुरुषार्थ आवश्यक है।

२. उत्कृष्ट काल – सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा यदि मिथ्यात्व गुणस्थान के उत्कृष्ट काल का विचार किया जाय तो मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट काल किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र है।

जब किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में से मात्र अंतर्मुहूर्त काल शेष रह जाता है, तब यह जीव पुन: पुरुषार्थ करके सम्यक्त्व और संयम को युगपत् धारण करके श्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध भगवान हो जाता है; ऐसा नियम है।

३. मध्यम काल – मिथ्यात्व गुणस्थान के यथायोग्य जघन्य काल अंतर्मुहूर्त में एक समय, दो, तीन, चार आदि समय मिलाकर अनेक भेद हो सकते हैं। फिर दो, तीन, चार अंतर्मुहूर्त और उनमें भी एक, दो आदि समय मिलाकर मध्यम काल के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इसतरह किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल पर्यंत जितने भी काल के भेद हो सकते हैं, वे सर्व मिथ्यात्व गुणस्थान के मध्यमकाल के भेद समझना चाहिए।

४. अनादि-अनंत काल – अभव्य जीव के मिथ्यात्व भाव का कभी नाश ही नहीं हो सकता; इसलिए अभव्यों की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादि-अनंत है।

नाना भव्य जीवों की अपेक्षा से भी मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादि-अनंत है। अनादि काल से भी भव्य जीवों को मिथ्यात्व गुणस्थान है और भव्यों से भी कभी संसार खाली नहीं होगा; इस अपेक्षा मिथ्यात्व का काल अनन्त कहना आगमसम्मत है।

१०. प्रश्न : भव्यजीवों के मिथ्यात्व का काल अनंत कैसा ?

उत्तर : आगम के कथनानुसार यह संसार कभी भव्यजीवों से रहित नहीं होता। अत: नाना भव्यजीवों की अपेक्षा मिथ्यात्व का काल अनादि-अनंत सिद्ध होता है।

दूसरी एक अपेक्षा यह भी है कि दूरानुदूर भव्य, अभव्य के समान ही होते हैं; उन्हें कभी मोक्ष या मोक्षमार्ग प्राप्त होता ही नहीं है। इसलिए भी मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादि-अनंत सिद्ध होता है।

५. अनादि-सांत काल – एक भव्य जीव की अपेक्षा काल अनादि-सांत है। इसका अर्थ – कोई भव्य जीव अनादि से मिथ्यात्व गुणस्थान में रहता है; इस अपेक्षा से भव्य जीव के मिथ्यात्व का काल अनादि हो गया। अब वह भव्य जीव जब अपने निज शुद्धात्मा का आश्रय करके सम्यक्त्वी होता है, तब उसके मिथ्यात्व का निश्चित ही नाश हो जाता है, इस अपेक्षा से भव्य जीव के मिथ्यात्व का काल सान्त हो गया। इस तरह एक भव्यजीव के मिथ्यात्व का काल अनादि-सान्त सिद्ध हो गया।

६. सादि-सांत काल – सूक्ष्मता से सोचा जाये तो प्रत्येक पर्याय का काल एक समय का ही होता है; इस अपेक्षा से मिथ्यात्व परिणाम समय-समय बदलता ही रहता है। इस दृष्टि से पर्याय अपेक्षा अर्थात् सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा मिथ्यात्व परिणाम का काल एक समय ही है, इसलिए मिथ्यात्व परिणाम सादि सान्त भी है।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन शब्द का अर्थ है जाना और आगमन शब्द का अर्थ है आना। **जीव के एक गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाने-आने के अर्थ में**

गमनागमन शब्द का प्रयोग किया गया है। सभी गुणस्थानों में गमनागमन शब्द का अर्थ ऐसा ही समझना चाहिए।

गमन – १. मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज यदि अधिक से अधिक पुरुषार्थ करके सीधे उपरिम गुणस्थान में जायेंगे तो वे सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में जा सकते हैं। अर्थात् प्रथम बार में ही वे आधे गुणस्थानों को पार कर जाते हैं; क्योंकि कुल मिलाकर गुणस्थान चौदह ही हैं और उन्होंने तो प्रथम बार में ही सातवाँ अप्रमत्तविरतगुणस्थान प्राप्त कर लिया है।

सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि होने पर भी जो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज हों, वे अपने निज शुद्धात्मा के आश्रय करने का विशिष्ट पुरुषार्थ करने पर एवं बाधक कर्मों का उदयाभाव होने से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। वे सातिशय पुरुषार्थी मुनिराज प्रथम समय में तो मिथ्यादृष्टि थे और दूसरे ही समय में मिथ्यात्व कर्म तथा मिथ्यात्व परिणाम का नाश होने से उसी समय वे अनंतानुबंधी चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क कर्मों का उदयाभावी क्षय होने के कारण अर्थात् वीतरागता व्यक्त होने से भावलिंगी मुनिराज हो जाते हैं। अब तो इन्हें मात्र चारित्रमोहनीय में से संज्वलन कषाय चतुष्क और नौ नोकषाय कर्म का उदय तथा तज्जन्य परिणाम ही शेष रह गया है।

२. कोई प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिवर मिथ्यात्व तथा तीन कषाय चौकड़ी का अभाव न होने पर भी निजशुद्धात्मा के ध्यानरूप पुरुषार्थ से इस मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे विरताविरत गुणस्थान में भी गमन कर सकते हैं।

३. अथवा कोई द्रव्यलिंगी श्रावक प्रथम गुणस्थान से शुद्ध आत्मा के अवलंबन के बल से सीधे पाँचवें विरताविरत गुणस्थानवर्ती हो जाते हैं।

४. कोई द्रव्यलिंगी मुनिराज, द्रव्यलिंगी श्रावक अथवा अव्रती भद्र मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में जा सकते हैं।

५. कोई सादि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज, द्रव्यलिंगी श्रावक अथवा भद्र मिथ्यादृष्टि हो तो वे मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे/मिश्र गुणस्थान में प्रवेश कर सकते हैं।

११. प्रश्न : आपने तीसरे गुणस्थान में प्रवेश करनेवाले के लिए सादि मिथ्यादृष्टि, यह विशेषण क्यों लगाया ? क्या कोई अनादि मिथ्यादृष्टि तीसरे गुणस्थान में प्रवेश नहीं करेगा ?

उत्तर : अनादि मिथ्यादृष्टि के पास सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोह कर्म की सत्ता ही नहीं है। अत: वह तीसरे गुणस्थान में प्रवेश नहीं कर सकता। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रथम समय में मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होने का नियम है।

१२. प्रश्न : मिथ्यात्व गुणस्थान से कोई जीव सातवें में, कोई पाँचवें में, कोई चौथे में अथवा कोई तीसरे गुणस्थान में गमन करते हैं, ऐसा भेद क्यों/कैसे होता है ?

उत्तर : प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी पात्रता भिन्न-भिन्न होती है, त्रिकाली शुद्धात्मा का आश्रय करनेरूप पुरुषार्थ हीनाधिक होता है, उदय में आनेवाले कर्म भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, भवितव्य भी स्वतंत्र होता है; कोई जीव किसी अन्य जीव के, पुद्गलादि के अथवा भगवान के भी आधीन नहीं है। इसलिए उनका गुणस्थान में गमनरूप कार्य भी स्वतंत्र रीति से पर्यायगत योग्यता के अनुसार होता रहता है।

एक ही समवशरण अर्थात् धर्मसभा में देव, मनुष्य, तिर्यंच - तीन गति के जीव एक ही तीर्थंकर भगवान का उपदेश सुनते हैं; तथापि उन श्रोताओं में भी उनकी अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार ही वे महाव्रतों या अणुव्रतों को ग्रहण करते हैं, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करते हैं तीसरे गुणस्थान के पात्र बनते हैं या अंतरंग में तत्त्व का विरोध करते हैं। इससे ही प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतंत्रता सिद्ध होती है।

१३. प्रश्न : द्रव्यलिंगी मुनिराजों के कितने भेद हैं ?

उत्तर : द्रव्यलिंगी मुनिराजों के मुख्यता से तीन भेद होते हैं।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थानर्ती द्रव्यलिंगी, (२) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी और (३) पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी।

प्रथम, चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती को द्रव्यलिंगी कहते हैं; इसके लिए **धवला पुस्तक ४, पृष्ठ २०८** पर स्पष्ट खुलासा आया है, उसका अवलोकन करे। उसका संक्षेप में कथन निम्नानुसार है – ''समाधान – यह कोई दोष नहीं; **क्योंकि यद्यपि नवग्रैवेयकों में द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत जीव उत्पन्न होते हैं।**

यही विषय त्रिलोकसार गाथा ५४५ में भी आया है। वहाँ द्रव्यलिंगी को निर्ग्रंथ शब्द द्वारा कहा गया है।

भावपाहुड गाथा २२ में – १०५ क्षुल्लक श्री सहजानन्दजी वर्णी ने प्रवचनों में प्रथम गुणस्थान से पाँचवे गुणस्थान पर्यंत पाँचों गुणस्थानों में द्रव्यलिंगी मुनिपने का स्वीकार किया है। (पृष्ठ–३०३)

सासादन गुणस्थानवर्ती तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती को भी द्रव्यलिंगी मुनिराज कह सकते हैं; परंतु इन दोनों गुणस्थानों का काल अति अल्प होने से द्रव्यलिंगियों में उनको मुख्यता से नहीं लिया गया है।

छठवें गुणस्थानवर्ती को जो द्रव्यलिंग होता है; वह द्रव्यलिंग भावलिंग के साथवाला है। अत: उन्हें शास्त्र में द्रव्यलिंगी की संज्ञा नहीं दी गई है; क्योंकि वह द्रव्यलिंग भावलिंग के साथ सुमेलवाला है। वास्तविकरूप से सोचा जाय तो चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत द्रव्यलिंग रहता है।

१४. प्रश्न : परिणामों से जो जीव चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती हैं, वे जीव सम्यग्दृष्टि तो हैं ही और बाह्य में २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन भी करते हैं; तथापि आपने उन्हें द्रव्यलिंगी क्यों कहा ?

उत्तर : अन्तरंग में अर्थात् परिणामों से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि एवं पंचम गुणस्थानवर्ती और बाह्य में २८ मूलगुणों के पालन करनेवाले भावलिंगी नहीं होते हैं; क्योंकि उनको आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन के साथ तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय पूर्वक उत्पन्न वीतरागतारूप शुद्धता नहीं होती; इसलिए उन्हें द्रव्यलिंगी कहा है। **द्रव्यलिंगी का अर्थ सर्वत्र मिथ्यादृष्टि नहीं होता।**

१५. प्रश्न : ऐसे द्रव्यलिंगी मुनिराज के साथ सच्चे श्रावक को कैसा व्यवहार रखना चाहिए ?

उत्तर : यदि अट्ठाईस मूलगुणों का आचरण आगमानुकूल हो तो द्रव्यलिंगी मुनिराज के लिए क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक नमस्कारादि विनय व्यवहार तथा आहारदान आदि क्रियायें हार्दिक परिणामों से करे; क्योंकि नमस्कार आदि व्यवहार है और मुनिराज का व्रत पालन भी व्यवहार है। सूक्ष्म अंतरंग परिणामों का पता लग भी नहीं सकता; क्योंकि वे तो केवलज्ञानगम्य ही होते हैं। व्यवहारी जनों के लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य हैं।

(योगसार–प्राभृत अध्याय ५ श्लोक २४६, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २८३–२८४)

आगमन – १. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत भी अनादि–कालीन कुसंस्कारों के पुन: प्रगट होने पर विपरीत पुरुषार्थ से निज शुद्धात्मा का अवलंबन छूटने से तथा निमित्तरूप में यथायोग्य कर्मों का उदय आने से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

२. पंचम गुणस्थानवर्ती विरताविरत श्रावक अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज भी अपने हीन पुरुषार्थरूप अपराध से तथा उसी समय निमित्तरूप में यथायोग्य कर्मों के उदय से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

३. क्षायिक सम्यग्दृष्टि को छोड़कर अन्य दोनों – औपशमिक तथा क्षायोपशमिक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के जब श्रद्धा में विपरीतता आती है तथा उसी समय मिथ्यात्व का उदय आने पर वे जीव सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

४. मिश्र गुणस्थानवर्ती भी मिथ्यात्व में आ सकते हैं।

५. सासादन सम्यग्दृष्टि तो मिथ्यात्व गुणस्थान में आते ही हैं।

१६. प्रश्न : मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती साधक किस साधना द्वारा अविरत सम्यक्त्व आदि उपरिम गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि जीव स्व–पर भेदज्ञानपूर्वक अपने त्रिकाली निज शुद्धात्मा के आश्रयरूप महान अपूर्व पुरुषार्थ से दर्शनमोहादि कर्म का भी अभाव होने से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती साधक उपरिम गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं।

१७. प्रश्न : मुनिराज प्रमत्तसंयत गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में आते ही क्या कपड़े पहन लेते हैं ? क्या अपने घर में चले जाते हैं ? अथवा सरागी देवों की श्रद्धा करने लगते हैं ?

उत्तर : भाईसाहब ! गुणस्थान की परिभाषा का आप पुन: अवलोकन करोगे तो ज्ञात होगा कि मोह और योग के निमित्त से श्रद्धा और चारित्र गुण की अवस्थाओं/पर्यायों को गुणस्थान कहते हैं। वहाँ कपड़े इत्यादि बाह्य परिग्रह को ग्रहण करने की बात ही कहाँ से आ गई ?

अंदर ही अंदर अर्थात् मोहोदय से अबुद्धिपूर्वक श्रद्धा तथा चारित्र गुणों के परिणमन में विपरीतता आ गयी है। परिणामों की शिथिलता से गुणस्थान गिर गया है। तत्काल वे अपने को बुद्धिपूर्वक संभालने का प्रयास करते हैं। दूसरों को किंचित् मात्र पता भी न चल पावे, इतने में ही वे पुन: सातवें गुणस्थान में भी प्रविष्ट होकर पूर्व अनुभूत अपूर्व आत्मानंद का रसास्वादन भी करने लगते हैं।

वे महापुरुष हैं, अलौकिक महामानव हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें कपड़े पहनने या घर जाने का व खोटे देवों की आराधना में संलग्न होने का भाव भी नहीं आता।

कोई साधारण साइकिल सवार साइकिल चलाते-चलाते जब गिर पड़ता है तो तुरंत उठने की कोशिश करता है या वहीं बिस्तर लेकर सो जाता है क्या ?

१८. प्रश्न : अप्रमत्तादि उपरिम गुणस्थान से सीधे ही मिथ्यात्व गुणस्थानों में आगमन क्यों नहीं होता ?

उत्तर : शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्त गुणस्थान से प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही मुनिराज का आगमन होता है। तदनन्तर ही अनेक मार्ग से निचले गुणस्थानों में गमन/पतन होता है। शुद्धोपयोग पूर्वक शुभोपयोगरूप छठवें गुणस्थान की प्राप्ति का ऐसा ही नियम है।

प्रमत्तसंयत से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में हर एक मुनिराज का आना आवश्यक नहीं है। छठवें से पाँचवें, चौथे, तीसरे में और औपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत हो तो दूसरे में तथा क्षायिकसम्यक्त्वी न हो तो पहले

मिथ्यात्व गुणस्थान में भी आ सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज चौथे गुणस्थान पर्यंत ही आ सकते हैं, इससे नीचे नहीं।

विशेष अपेक्षा विचार :

१. एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तथा लब्ध्यपर्याप्त संमूर्च्छन मनुष्य जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं और ये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी अपने इस जीवन में नहीं कर सकते।

१९. प्रश्न : संज्ञी जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं; ऐसा नियम क्यों है ? इसका स्पष्टीकरण करें।

उत्तर : संज्ञी जीव मन सहित होते हैं। मन के माध्यम से ही जीव हिताहित का विचार कर सकते हैं। तत्त्व के सूक्ष्म विचार से प्रगट होनेवाला सम्यक्त्वरूप मोक्षमार्ग मन के बिना नहीं हो सकता।

इस विषय का स्पष्टीकरण कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३०७ में निम्नप्रकार आया है। मूल गाथा तथा पण्डित जयचंदजी छाबड़ाकृत अर्थ इसप्रकार है -

चदुगदिभव्वो सण्णी, सुविसुद्धो
ज ग ग म ा ण प ज्ज ा त ा ा ` ।
संसारतडे णियडो, णाणी पावेइ सम्मत्तं।।

''पहले तो भव्यजीव होवे; क्योंकि अभव्य को सम्यक्त्व नहीं होता है। चारों ही गतियों में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है; परन्तु मन सहित/संज्ञी को ही उत्पन्न हो सकता है। असंज्ञी को उत्पन्न नहीं हो सकता है। उसमें भी विशुद्ध परिणामी हो शुभलेश्या[1] सहित हो, अशुभलेश्याओं[2] में भी शुभ लेश्याओं के समान कषायों के स्थान होते हैं, उनको उपचार से विशुद्ध कहते हैं। संक्लेश परिणामों में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। जागते हुए को होता है, सोये हुये को नहीं होता है। पर्याप्त के होता है, अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है। संसार का तट जिसके निकट आ गया है, जो

१-२. शुभ लेश्या हो तो वर्धमान और अशुभ लेश्या हो तो हीयमान होना चाहिए।
- धवला पुस्तक ६, पृष्ठ : २०७

निकट भव्य हो, जिसका अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन काल से अधिक संसार भ्रमण शेष हो, उसे सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञानी हो अर्थात् साकार उपयोगवान हो, निराकार दर्शन उपयोगी को सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। ऐसे जीव को सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।''

२. मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती सभी जीव बहिरात्मा ही हैं। आत्मा को आत्मा न मानकर शरीरादि पर वस्तुओं में जो अपनत्वादि करते हैं, उन्हें बहिरात्मा कहते हैं। प्रथम तीन गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा ही हैं। बहिरात्मा नियम से दु:खी तो हैं ही, उन्हें पापी भी कहते हैं।

३. कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के उपासक सभी गृहीत मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। रागी-द्वेषी देवी-देवताओं के किसी भक्त का विशेष पुण्योदय हो और वचनादि चतुराई से बाह्य में कुभेष धारण करके अनेक लोगों का गुरु बन गया हो; हजारों और लाखों बड़े धनवान, राजादिक भी उसके अनुयायी हो गए हों तो भी सर्वज्ञ भगवान के आज्ञानुसार वह मिथ्यादृष्टि, पापी, बहिरात्मा, संसारमार्गी ही है; ऐसे गुरु नामधारी लोगों के प्रभाव में आना मिथ्यात्वभाव का स्पष्ट पोषण करना ही है।,

दया, सज्जनता, परोपकार, देशसेवा तथा सामाजिक कार्य इत्यादि लौकिक कार्यों से समाज में श्रेष्ठ हो जाना, यश प्राप्त कर लेना अलग बात है और तत्त्वज्ञ बनकर मोक्षमार्गी हो जाना अलग बात है। **आत्मार्थी, धर्ममार्गी का लौकिक यश-प्रतिष्ठा आदि से कुछ भी संबंध नहीं है।**

लौकिक में अतिशय महान व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हो सकता है और समाज में जिसे कोई पहिचानता ही न हो, अतिशय उपेक्षित हो, वह भी मोक्षमार्गी हो सकता है। संक्षेप में इतना समझ लेना चाहिए कि **पूर्वबद्ध पुण्योदय के कारणमात्र से कोई धार्मिक नहीं हो सकता।**

४. मिथ्यादृष्टि मनुष्य गर्भकाल सहित आठ वर्ष पर्यंत मिथ्यात्व नष्ट करने में असमर्थ रहता है। संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त तथा संमूर्च्छन तिर्यंच अंतर्मुहूर्त पर्यंत मिथ्यात्व नष्ट करने में असमर्थ रहता है। देव नारकी भी अंतर्मुहूर्त पर्यंत मिथ्यात्व नष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। विशिष्ट काल व्यतीत होने पर विशिष्ट पात्रता के बाद पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन की

प्राप्ति कर सकते हैं।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १६२-१६३)

सामान्य से गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं।।९।।

जिनदेव संपूर्ण प्राणियों का अनुग्रह करनेवाले होते हैं; क्योंकि वे वीतराग हैं।

'मिथ्यादृष्टि जीव हैं' यहाँ पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय (अनेकान्त-बाह्य-मत) होते हैं।

इस वचन के अनुसार मिथ्यात्व के पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए; किन्तु मिथ्यात्व पांच प्रकार का है, यह कहना उपलक्षणमात्र है। अथवा, मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ (खोटा) और **दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिये जिन जीवों की रुचि असत्य में होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं।**

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभाव का अनुभव करनेवाला जीव विपरीत-श्रद्धावाला होता है। जिसप्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मधुर रस अच्छा मालूम नहीं होता है; उसीप्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है।

जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वार्थ के विषय में अश्रद्धान उत्पन्न होता है अथवा विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इसप्रकार तीन भेद हैं।

❀

अध:करणादि के कार्य

१. अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क की विसंयोजना के समय अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण – ये तीनों करण नियम से होते हैं।

२. क्षायिक सम्यक्त्व के लिए अध:करणादि तीनों करण होते ही हैं।

३. उपशमश्रेणी के आरोहण के लिए अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्मों की उपशमना के लिए अध:करणादि तीनों करण होते ही हैं। सातवें सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में अध:करण होता है तथा आठवें और नववें गुणस्थान के नाम ही शेष दोनों करणों के अनुसार हैं।

४. क्षपक श्रेणी के आरोहण के लिए अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्मों की क्षपणा/क्षय के लिए अध:करणादि तीनों करण होते हैं।

५. यदि प्रशमोपशम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व गुणस्थान में आये हुए जीव को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व शीघ्र प्राप्त करना हो, तो उसे अध:करण और अपूर्वकरण ये दो ही करण होते हैं।

६. देशचारित्र अर्थात् देशविरत गुणस्थान की प्राप्ति के लिए अध:करण और अपूर्वकरण – ये दो ही करण आवश्यक हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे पाँचवें देशविरत गुणस्थान में गमन करनेवाले को तीनों करण होते हैं।

७. सकलचारित्र की प्राप्ति के लिए भी प्रथम व द्वितीय दो ही कारण होते हैं। मिथ्यात्व से सीधे औपशमिक सम्यक्त्व के साथ अप्रमत्तविरत गुणस्थान में प्रवेश करनेवाले को अध:करणादि तीनों करण होते हैं।

श्रेणी के गुणस्थानों के पहले चारित्र के लिए अलग अध:करणादि करण नहीं होते। सम्यक्त्व के लिए जो अध:करणादि करण होते हैं, उसी समय यथासंभव अविरत सम्यक्त्व, देशचारित्र या सकलचारित्र होते हैं। औपशमिक चारित्र तथा क्षायिक चारित्र के लिए ही श्रेणी के आरोहण काल में अध:करणादि तीनों करण होते हैं। इसतरह उपर्युक्त पाँच स्थान पर ही अध:करणादि तीन करण होते हैं। **(आधार – लब्धिसार एवं जयधवला प्रथम पुस्तक)**

२

सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान

दूसरे गुणस्थान का नाम सासादनसम्यक्त्व है। यह गुणस्थान औपशमिक सम्यक्त्व के साथ उपरिम गुणस्थानों से नीचे गिरते समय पतन के काल में प्राप्त होता है।

२०. प्रश्न : यदि दूसरा सासादन गुणस्थान मिथ्यात्व के बाद सीधा प्राप्त नहीं होता तो सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान को दूसरे क्रमांक पर क्यों कहा है ?

उत्तर : सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान को दूसरा क्रमांक प्राप्त होने के कारण निम्नानुसार हैं –

१. सासादन परिणाम मिथ्यात्व के नजदीक का परिणाम है।

२. सासादन गुणस्थान से जीव नियम से मिथ्यात्व में ही प्रवेश करता है।

३. सासादनसम्यक्त्व परिणाम न तो सम्यक्त्वरूप है और न सम्यग्मिथ्यात्वरूप है; इसलिए उसे ऊपर के चौथे या तीसरे गुणस्थान में नहीं रख सकते।

४. यह परिणाम व्यक्त मिथ्यात्वरूप भी नहीं है; अत: पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में भी रखा नहीं जा सकता। इन सब कारणों से सासादनसम्यक्त्व को दूसरे क्रमांक में ही रखा गया है।

सासादन गुणस्थान तो उपरिम गुणस्थानों से नीचे गिरने पर पतन के काल में ही होता है। सम्यग्दर्शनरूपी पर्वत शिखर से पतित और मिथ्यात्वरूपी भूमि की ओर नीचे गिरनेवाले जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्वरूप शुद्ध पर्याय को छोड़नेरूप जीव के अपराध से तथा अनंतानुबंधी कषायों में से किसी एक कषाय के उदय के निमित्त

से जीव को सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान प्राप्त होता है। यहाँ मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का उदय न होने पर भी जीव सम्यक्त्व से रहित हो गया है, यह विषय समझना महत्वपूर्ण है।

२१. प्रश्न : सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान औपशमिक सम्यक्त्वी को ही क्यों होता है; क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी को क्यों नहीं होता ?

उत्तर : जिस सम्यग्दृष्टि के पास अनंतानुबंधी कषाय की सत्ता हो और उसका उदय भी हो तो उसी को दूसरा सासादन गुणस्थान बनता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तो अनंतानुबंधी कषायों का नाश ही हो चुका है अर्थात् उसे अनंतानुबंधी कषाय की सत्ता ही नहीं है, तो उसे अनंतानुबंधी का उदय कैसे होगा ? अत: क्षायिक सम्यग्दृष्टि को दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को अनंतानुबंधी कषायों की सत्ता तो है; परंतु उनका अप्रशस्त उपशम या विसंयोजना हुई है, अत: अनंतानुबंधी का उदय न होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को भी दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

औपशमिक सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व का **अंतरकरणरूप उपशम** हुआ है। इस कारण उपशम काल तक तो कदाचित् जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि रहता है; और उपशम काल में से एक समय या छह आवली काल शेष रहने पर कदाचित् अनंतानुबंधी की उदय/उदीरणा होने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर उसे सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान हो जाता है।

इस सासादन सम्यग्दृष्टि जीव को अनंतानुबंधी कषाय कर्म के उदय के निमित्त से अनंतानुबंधी कषाय भाव उत्पन्न होने पर उसके सम्यक्त्व की विराधना कही गई है; परन्तु वह अभी मिथ्यात्व परिणाम को प्राप्त नहीं हुआ है, अत: उसे सासादनसम्यक्त्वी कहते हैं। स + आसादन = सासादन। स = सहित, आसादन = विराधना, नाश। इसप्रकार सासादन शब्द का अर्थ **सम्यक्त्व का नाश करनेवाला** होता है।

२२. प्रश्न : सम्यक्त्व का नाश हुआ है; लेकिन मिथ्यात्व परिणाम को प्राप्त नहीं हुआ है, यह कैसे सम्भव हैं ? यह जीव बीच में कहाँ अटकता है ?

उत्तर : सामान्यरूप से देखा जाए तो जीव या तो मिथ्यादृष्टि होता है

या सम्यग्दृष्टि। परंतु करणानुयोग श्रद्धागुण की छह पर्यायों को स्वीकार करता है। जैसे - (१) मिथ्यात्व (२) सासादनसम्यक्त्व (३) सम्यग्मिथ्यात्व (४) औपशमिक सम्यक्त्व (५) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और (६) क्षायिक सम्यक्त्व। इसी कारण से सासादनसम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानों की सिद्धि हो जाती है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९ में सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान की **परिभाषा** निम्नानुसार दी है -

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलि त्ति वा सेसे।
अणअण्णदरूदयादो णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ।।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से जब जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे, उतने काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय के उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर श्रद्धा की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

श्री गुणधराचार्य और श्री यतिवृषभाचार्य के मतानुसार द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी भी दूसरे गुणस्थान में आते हैं।

यहाँ परिभाषा में जो श्रद्धा की अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति की बात कही है, उसे दर्शनमोहजनित मिथ्यात्वरूप परिणति नहीं कह सकते; क्योंकि श्रद्धा की विपरीत परिणति अव्यक्त है। अतत्त्वश्रद्धान की परिणति व्यक्त होते ही मिथ्यात्वी हो जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व की विराधना होने पर सासादन गुणस्थान उत्पन्न हुआ है।

२३. प्रश्न : औपशमिक सम्यक्त्व की विराधना में किसी कर्म का उदय निमित्त है या नहीं ?

उत्तर : अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय कर्म के उदय के निमित्त से औपशमिक सम्यक्त्व की विराधना हो जाती है।

२४. प्रश्न : सम्यक्त्व की विराधना/नाश तो मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है; आप अनंतानुबंधी कषाय के उदय से औपशमिक सम्यक्त्व की विराधना होती है, ऐसा क्यों कहते हो ?

उत्तर : सम्यक्त्व की विराधना मिथ्यात्व से होती है – यह सामान्य कथन है। यहाँ करणानुयोग की विवक्षा से विशेष कथन किया है। करणानुयोग के अनुसार अनंतानुबंधी कषाय का उदय भी सम्यक्त्व के नाश में निमित्त है।

आचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने धवला पुस्तक एक पृष्ठ १७२ पर अनन्तानुबंधी कषाय को द्विस्वभावी कहा है। अर्थात् अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और सम्यक्त्वाचरण चारित्र दोनों को घातने में निमित्त है। इसीकारण ऊपर अनंतानुबंधी के भी उदय से औपशमिक सम्यक्त्व की विराधना होती है – ऐसा कहा गया है। इस विषय में धवला का मूल कथन इसप्रकार है –

दंसण–चरण गुणघाई चत्तारि अणंताणुबंधि पयडीओ

अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय के उदय–प्रवाह को अनंत करनेरूप कार्य अनंतानुबंधी कषाय करता है। **(धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४३)**

अनंतानुबंधी कषाय का उदय कब होता है ? इस तरह काल की अपेक्षा से पूछा जाये तो इस परिभाषा में ही उसका स्पष्ट उत्तर दिया गया है। जब औपशमिक सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से जघन्य एक समय, दो, तीन, चार, पाँच समय अथवा छह आवली काल शेष रहे और अनंतानुबंधी कषाय का उदय आवे तो सासादन गुणस्थान होता है।

सासादन गुणस्थान को सासनसम्यक्त्व भी कहते हैं। सासन का शब्दार्थ इसप्रकार है। स = सहित, असन = सम्यक्त्व की विराधना। स + असन = सासन। सासनसम्यक्त्व = सम्यक्त्वविराधक परिणाम।

समयसार नाटक चतुर्दश गुणस्थानाधिकार में सासादन गुणस्थान का कथन २० वें छंद में किया है। उसका अभिप्राय यह है ''जिसप्रकार कोई भूखा मनुष्य शक्कर मिली हुई खीर खावे और वमन होने के बाद उसका किंचित् मात्र स्वाद लेता रहे।

उसीप्रकार चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान पर्यंत चढे हुए किसी उपशमी सम्यक्त्वी को अनंतानुबंधी कषाय का उदय होता है तो उसी समय वहाँ से मिथ्यात्व में गिरता है; उस गिरती हुई दशा में जघन्य एक समय और

अधिक से अधिक छह आवली तक जो बिगड़े हुए सम्यक्त्व का किंचित् स्वाद मिलता है; वह सासादन गुणस्थान है।''

सासादन की संक्षिप्त परिभाषा करें तो **सम्यक्त्व विराधक परिणाम ही सासन गुणस्थान है। सम्यक्त्व विराधक जीव की सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतशिखर से पतित मिथ्यात्वरूपी भूमि के सन्मुख दशा को सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।**

इस गुणस्थान की परिभाषा में जो सम्यक्त्व को रत्नपर्वत की उपमा दी है, उसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार रत्नपर्वत अनेक रत्नों को उत्पन्न करनेवाला और उन्नत स्थान पर पहुँचानेवाला है; उसीप्रकार सम्यक्त्व भी केवलज्ञानादि अनेक गुणरत्नों को उत्पन्न करनेवाला और सब से उन्नत मोक्षस्थान पर पहुँचानेवाला है।

२५. प्रश्न : सासादन गुणस्थानवर्ती जीव विपरीत अभिप्राय से दूषित है; इसलिए उसे सासादनसम्यक्त्व नहीं कहना चाहिए।

उत्तर : यहाँ सम्यक्त्व कहने का कारण मात्र यह है कि वह पहले सम्यक्त्वी था; इसलिए भूतनैगमनय की अपेक्षा उसे सम्यक्त्व की संज्ञा बन जाती है। वह काल भी अभी सम्यक्त्व का चल रहा है एवं दर्शनमोहनीय का यहाँ उपशम ही है। जैसे परीक्षार्थी को पेपर देने का समय तीन घंटे का है और कोई विद्यार्थी दो घंटे में पेपर लिखकर घर चला जाय तो भी शेष एक घण्टा काल पेपर का काल ही कहा जायेगा।

चारित्र अपेक्षा विचार –

इस सासादन गुणस्थान में श्रद्धा यथार्थ न होने से ज्ञान, चारित्र आदि सर्व गुणों का परिणमन मिथ्यारूप ही होता है।

चारित्र आदि सर्व गुण एवं जीवादि द्रव्य तो स्वभाव से अनादि–अनंत शुद्ध ही है। गुणों में एवं द्रव्य में मिथ्या अथवा सम्यक्पना का कोई प्रश्न ही नहीं है। मिथ्या या सम्यक्पना अथवा शुद्धता या अशुद्धता तो पर्याय में ही आती है, यह पर्याय धर्म है।

यदि द्रव्यों या गुणों में मिथ्यापना अथवा अशुद्धता आ जाय अथवा स्वभाव से द्रव्य या गुण अशुद्ध हो तो वह उनका स्वभाव हो जायेगा; तब फिर उनके शुद्ध होने का कोई उपाय ही नहीं हो सकता। अत:

अनादि से सर्व द्रव्य अथवा प्रत्येक गुण स्वभाव से शुद्ध ही हैं; ऐसा स्वीकार करना चाहिए। सर्वज्ञ भगवंतों की दिव्यध्वनि में द्रव्य और गुणों को सदा शुद्ध ही कहा गया है।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – इस गुणस्थान का जघन्य काल मात्र एक समय है। अर्थात् कोई जीव छठवें आदि गुणस्थानों में से औपशमिक सम्यक्त्व के साथ गिरकर इस सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में आ जाये तो वह कम से कम इस गुणस्थान में मात्र **एक समय** रह सकता है। तदनंतर वह नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में गमन करता है।

उत्कृष्ट काल – यदि कोई जीव इस सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में अधिक से अधिक काल पर्यंत रहेगा तो मात्र छह आवली पर्यंत ही रह सकता है। तदनंतर नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही गमन करता है। अत: इसका उत्कृष्ट काल **छह आवली** है।

मध्यम काल – दो, तीन, चार, पाँच समय आदि से लेकर एक आवली, दो आवली, तीन, चार, पाँच आवली अधिक एक समय, दो समय से लेकर तीन, चार, पाँच और आखिर का एक समय कम छह आवली पर्यंत के सर्व भेद सासादनसम्यक्त्व के मध्यम काल के भेद हो सकते हैं।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नियम से नीचे मिथ्यात्व गुणस्थान में ही गमन करता है। मिश्र, अविरतसम्यक्त्व आदि ऊपर के गुणस्थानों में सासादन सम्यग्दृष्टि का गमन नहीं होता; क्योंकि उसका मुख ही मिथ्यात्व की ओर हो गया है। इस कारण उसकी पर्यायगत पात्रता ही मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही प्रवेश करने की है।

जैसे पेड़ से फल नीचे गिर रहा हो तो वह नीचे जमीन पर नियम से गिरेगा ही, बीच के अंतराल से वापिस पेड़ पर नहीं जा सकता है।

वैसे सासादनसम्यक्त्वी जीव सम्यक्त्व से छूट गया है, मिथ्यात्व के अभिमुख हो गया है। अब सासादन से ही उपरिम गुणस्थानों में जाने का उसे अवसर नहीं है। अब तो मिथ्यादृष्टि होना ही अनिवार्य है। फिर

मिथ्यात्व गुणस्थान से यथासंभव ऊपर के गुणस्थानों में पुन: पुरुषार्थ करने से गमन करना संभव है।

आगमन – १. औपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी महापुरुष सीधे सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

२. औपशमिक सम्यग्दृष्टि का देशविरत गुणस्थान से अर्थात् व्रती श्रावक अवस्था से सीधे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान में आना बन सकता है।

३. औपशमिक सम्यग्दृष्टि का अविरतसम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से भी सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में आना संभव है; क्योंकि औपशमिक सम्यग्दृष्टि ही सासादनसम्यक्त्वी हो सकते हैं, अन्य सम्यग्दृष्टि नहीं, यह अकाट्य नियम है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. यदि सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में रहते हुए किसी जीव का मरण होता है, तो वह जीव मरणोपरान्त नरकगति में नहीं जाता है; क्योंकि सासादनसम्यक्त्व का काल औपशमिक सम्यक्त्व का ही काल है और सम्यग्दृष्टि जीव (बद्धायुष्क न हो तो) नरक जाता ही नहीं है – यह नियमहै।

२. तीर्थंकर और आहारकद्विक की सत्ता सहित जीव सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में जाता ही नहीं है।

आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामकर्म – दोनों को आहारकद्विक कहते हैं। आहारक ऋद्धिधारी छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को जिनवाणी के अध्ययन में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होने पर अथवा जिनालय की वंदना करने के लिये उनके मस्तक में से एक हाथ प्रमाण स्वच्छ, श्वेत, सप्तधातुरहित पुरुषाकार पुतला निकलता है; उसे आहारक शरीर कहते हैं।

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों को प्रयोजनभूत सात तत्त्व और द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी शंका नहीं होती; क्योंकि इन विषयों का यथार्थ निर्णय तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व ही हो जाता है। जिनवाणी अगाध है और मुनिराजों का क्षायोपशमिक ज्ञान तो सीमित ही होता है, अत: अप्रयोजनभूत अनेक विषयों के संबंध में प्रश्न तो हो ही सकते हैं, उनके सहज समाधान के लिये यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

आहारकद्विक की सत्तावाले मुनिराज विशिष्ट परिणाम के धारक होते हैं। अत: वे इस सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में नहीं आते, ऐसा समझना चाहिए।

३. द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव के सासादनसम्यक्त्वरूप भाव/परिणाम को पारिणामिक भाव भी कहते हैं; क्योंकि जीव का जो परिणाम कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा से रहित होता है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार सासादन सम्यक्त्वरूप परिणाम दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा के बिना ही होता है। अत: दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा इस दूसरे गुणस्थान के भाव को पारिणामिक भाव भी कहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान पर्यंत के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं। दूसरे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय के उदयादि की अपेक्षा नहीं हैं, अत: दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा यहाँ पारिणामिकपना घटित होता है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया हो, वहाँ उस अपेक्षा से समझ लेना चाहिए।

- सासादन गुणस्थान का काल औपशमिक सम्यक्त्व का ही काल है।
- मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय परिणाम के निमित्त से प्रथम गुणस्थान में बन्धनेवाली सोलह कर्म प्रकृतियों का यहाँ बन्ध नहीं होता।
- अनन्तानुबन्धी कषायरूप औदयिक परिणामों से बन्धनेयोग्य पच्चीस प्रकृतियों का यहाँ बन्ध होता है।

पंडितप्रवर टोडरमलजी का सासादन गुणस्थान संबंधी सूक्ष्म चिंतन भी विशेष महत्त्व रखता है। अत: उनके शब्दों में ही हम आगे दे रहे हैं (पृष्ठ ३३६) –

''यहाँ **प्रश्न** है कि अनन्तानुबन्धी तो चारित्रमोह की प्रकृति है, सो चारित्र का घात करे, इससे सम्यक्त्व का घात किस प्रकार सम्भव है ?

समाधान – अनन्तानुबंधी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं, कुछ अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता; इसलिये अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती। सो परमार्थ से है तो ऐसा ही; परन्तु

अनन्तानुबंधी के उदय से जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व होने पर नहीं होते – ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। जैसे – त्रसपने की घातक तो स्थावरप्रकृति ही है; परन्तु त्रसपना होने पर एकेन्द्रियजातिप्रकृति का भी उदय नहीं होता है, इसलिये उपचार से एकेन्द्रियप्रकृति को भी त्रसपने का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है। **उसीप्रकार सम्यक्त्व का घातक तो दर्शनमोह है; परन्तु सम्यक्त्व होने पर अनन्तानुबंधी कषायों का भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से अनन्तानंबंधी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।**

यहाँ फिर **प्रश्न** है कि अनन्तानुबंधी सम्यक्त्व का घात नहीं करती है तो इसका उदय होने पर सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है ? पृष्ठ – ३३७

समाधान – जैसे किसी मनुष्य के मनुष्यपर्याय के नाश का कारण तीव्र रोग प्रगट हुआ हो, उसको मनुष्यपर्याय का छोड़नेवाला कहते हैं। तथा मनुष्यपना दूर होने पर देवादिपर्याय हो, वह तो रोग अवस्था में नहीं हुई। यहाँ मनुष्य ही का आयु है। उसीप्रकार सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबंधी का उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्व का विरोधक सासादन कहा। तथा सम्यक्त्व का अभाव होने पर मिथ्यात्व होता है, वह तो सासादन में नहीं हुआ। यहाँ उपशमसम्यक्त्व का ही काल है – ऐसा जानना।

इसप्रकार अनन्तानुबंधी चतुष्टय की सम्यक्त्व होने पर अवस्था होती नहीं, इसलिये सात प्रकृतियों के उपशमादिक से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कही जाती है।''

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १६४)

सामान्य से सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हैं।।१०।।

सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं। जो इस आसादन से युक्त है, उसे सासादन कहते हैं। किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है; किन्तु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामों को नहीं प्राप्त हुआ है; फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख है, उसे सासादन कहते हैं।

१. शंका – सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनों को विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं हैं। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं; क्योंकि समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टि के आलम्बनभूत वस्तु के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नाम का कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिप्राय रहता है; इसलिये उसे असद्दृष्टि ही समझना चाहिये।

२. शंका – यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि **सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का प्रतिबन्ध करनेवाले अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है; इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता है। इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं; किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।**

३. शंका – पूर्व के कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र कहने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ – सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र मानने का फल जो अनन्तानुबन्धी की द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकार से हो सकती है। एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों की प्रतिबन्धक मानी गई है और यही उसकी द्विस्वभावता है। इसी कथन की पुष्टि यहाँ पर सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र मानकर

की गई है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्व के विघात में मिथ्यात्व प्रकृति का काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्व के उत्पाद में मिथ्यात्वप्रकृति का काम नहीं करती है। इसप्रकार की द्विस्वभावता को सिद्ध करने के लिए सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र माना है।

दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है; जिससे कि सासादन गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से दूसरे गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आवरण करनेवाला होने से चारित्रमोहनीय का भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

४. शंका – अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्धक होने से उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है ?

समाधान – यह आरोप ठीक नहीं; क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागम में मुख्य नय की अपेक्षा इसतरह का उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्म के अर्थात् दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। सासादन जो सम्यग्दृष्टि, वह सासादनसम्यग्दृष्टि है।

५. शंका – सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्राय से दूषित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टिपना कैसे बन सकता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है। कहा भी है –

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरि के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि के अभिमुख है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है; परंतु मिथ्यादर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे सासन अर्थात् सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिए।

❀

३

सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान

तीसरे गुणस्थान का नाम सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र है। इस गुणस्थान के नाम से ही हमारे मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है –

२६. प्रश्न : जो लोग सच्चे और झूंठे – दोनों प्रकार के देव, शास्त्र और गुरु को समान मानते हैं, वे ही सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं अथवा अन्य हैं ?

उत्तर : जो लोग सच्चे और झूंठे – देव, शास्त्र, गुरु को समान पूजनीय तथा कल्याणदायक मानते हैं; वे तो साक्षात् गृहीत मिथ्यादृष्टि ही हैं, उनका तो मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। उन्हें तो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का भी निर्णय नहीं है, वे सच्चे झूंठे का निर्णय करने के लिए विचार भी नहीं कर रहे हैं। उनका तीसरा गुणस्थान नहीं हो सकता। तीसरा गुणस्थान तो उन्हें होता है, जो एक बार सम्यग्दृष्टि हो चुके हैं।

जिस जीव ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त किया हो और फिर मिथ्यादृष्टि हो गया हो, उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

जब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है तो उस जीव के मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होने के कारण दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का हो जाता है – १) मिथ्यात्व २) सम्यग्मिथ्यात्व ३) सम्यक्प्रकृति। अत: जिसके पास सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म की सत्ता हो और उसका उदय आ जाय तो ही उसे तीसरा गुणस्थान होता है।

२७. प्रश्न : जिस जीव को सम्यग्मिथ्यात्व कर्म की सत्ता अर्थात् अस्तित्व एवं उदय न हो तो क्या उस जीव को तीसरा गुणस्थान नहीं हो सकता ?

उत्तर : जिस जीव के पास सम्यग्मिथ्यात्व कर्म की सत्ता/अस्तित्व है; उस जीव को सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान नियम से होता ही है – ऐसा

कारण-कार्य संबंध तो है ही नहीं। नियम ऐसा जरूर है कि जिस-जिस जीव की श्रद्धा में सम्यक्-मिथ्यापना आता है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है।

जीव के परिणाम में कर्म का उदय निमित्त मात्र है, कर्म जीव के परिणाम को करते-कराते हैं – ऐसा बिल्कुल नहीं है। यदि कर्म जीव के परिणाम को कराते हो तो उन्हें बलवान कहना संभव होता; लेकिन कर्म में ऐसी कुछ शक्ति ही नहीं है। अत: कर्म बलवान नहीं है, जीव ही अपने अच्छे-बुरे परिणामों का कर्त्ता है।

२८. प्रश्न : एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि संभव नहीं है; क्योंकि इन दोनों दृष्टियों का एक जीव में एक साथ रहने में विरोध आता है। ये दोनों दृष्टियाँ एक जीव में क्रमश: रहती हैं; अत: इनका सम्यक्त्व और मिथ्यादृष्टि नामक गुणस्थानों में अन्तर्भाव हो जायेगा। इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तीसरा गुणस्थान नहीं बनता।

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। समीचीन और असमीचीनरूप मिश्र श्रद्धा एक साथ रह सकती है – ऐसी मिश्र श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यात्वी है। आत्मा अनेक धर्मात्मक है; इसलिए आत्मा में अनेक धर्मों का सहानवस्थान लक्षणरूप विरोध असिद्ध है अर्थात् एक साथ अनेक धर्मों के रहने में कोई बाधा नहीं आती। यदि कहा जाय की आत्मा अनेक धर्मात्मक है, यह बात ही असिद्ध है, सो भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनेकान्त के बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता।

२९. प्रश्न : जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने में विरोध नहीं है, वे रहें; परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एकसाथ आत्मा में नहीं रह सकते ?

उत्तर : ऐसा कौन कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना संभव है ? यदि संपूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाये तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा।

अनेकांत का अर्थ यह है कि जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यंत अभाव नहीं है, वे धर्म उस आत्मा में किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत पाये जा सकते हैं, इसप्रकार समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओं का क्रमश: एक आत्मा में रहना संभव है तो कदाचित् किसी आत्मा में एक साथ भी उन दोनों का रहना बन सकता है। यह सब कथन काल्पनिक नहीं है; क्योंकि मित्रामित्रन्याय से एक काल में और एक ही आत्मा में मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं।

जिसप्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्य में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और चैत्र की अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं, उनमें कोई विरोध नहीं। इसीतरह सम्यक्त्व व मिथ्यात्व का मिश्रभाव भी आत्मा में रहता है।

३०. प्रश्न : पांच प्रकार के भावों में से तीसरे गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

उत्तर : तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है।

३१. प्रश्न : मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होनेवाले जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

उत्तर : संभव है; क्योंकि वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है; इसलिए वह भाव क्षायोपशमिक ही है। (सम्यग्ज्ञानचंद्रिका, पृष्ठ : ८९)

३२. प्रश्न : तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय भी है, फिर वहाँ औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिसप्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय पूर्ण नाश होता है; उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं पाया जाता। इसलिए तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

३३. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसको सर्वघाति क्यों कहा ?

उत्तर : ऐसी शंका ठीक नहीं है; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबंधक है, इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाति कहा है।

(विशेष स्पष्टीकरण के लिये सत्प्ररूपणा सूत्र पेज संख्या १३ व १४ देखिए।)

आचार्य श्री नेमिचन्द्रस्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २१ में सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है –

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो॥

सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से गुड़ मिश्रित दही के स्वाद के समान होनेवाले जात्यन्तर परिणामों को सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

गुड़ मिश्रित दही के स्वाद के समान का अर्थ – गुड़ का स्वाद मीठा और दही का स्वाद खट्टा होता है। दोनों के मिलने पर मीठा-खट्टा मिला हुआ स्वाद होता है।

वैसे ही जीव के श्रद्धागुण की पर्याय जब सम्यक् तथा मिथ्या – दोनोंरूप होती है, तब उसे न सम्यक् कह सकते हैं न मिथ्या। इसलिए श्रद्धागुण की जो मिश्ररूप पर्याय होती है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। जब जीव के श्रद्धागुण की मिश्ररूप अवस्था होती है, तब सहज ही सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म का उदय भी रहता है।

जात्यंतर शब्द का अर्थ अलग ही जाति का अर्थात् श्रद्धा न सम्यक् है और न मिथ्या है, इसलिए जात्यंतर शब्द का प्रयोग किया है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव का चारित्र मिथ्या ही होता है। चारित्र गुण की पर्याय श्रद्धा गुण की पर्याय का अनुसरण करती है। यदि श्रद्धा यथार्थ नहीं है तो चारित्र यथार्थ नहीं हो सकता है, ऐसा नियम है। तीसरे गुणस्थान में श्रद्धा यथार्थ नहीं है; इसलिए चारित्र भी मिथ्या ही है।

सूक्ष्मता से और वास्तविकपने देखा जाए तो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में चारित्र और ज्ञान – दोनों श्रद्धा के समान मिश्र अर्थात् सम्यक्-मिथ्यारूप ही होते हैं।

काल अपेक्षा विचार – कोई जीव इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान में आयेगा तो वह अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत रहेगा ही।

जघन्य काल – सर्व लघु अंतर्मुहूर्त काल है।

उत्कृष्ट काल – सर्वोत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल अर्थात् इस गुणस्थान के जघन्य काल से यह उत्कृष्ट काल संख्यात गुणा है। **(धवला पु. ४, पृष्ठ ३४४-४५)**

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव ऊपर के मात्र अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में ही गमन करता है; अन्य किसी भी ऊपर के गुणस्थानों में नहीं।

२. यदि सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव निचले गुणस्थान में गमन करता है तो वह एक मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही गमन करता है। सासादन गुणस्थान में नहीं।

आगमन – मिश्र गुणस्थान में सीधे आगमन के चार मार्ग हैं –

१. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत सीधे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

२. पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक का सीधे तीसरे गुणस्थान में आगमन हो सकता है।

३. चौथे अविरत सम्यक्त्व से भी मिश्र गुणस्थान में आना संभव है।

ये तीनों तीसरे गुणस्थान में आनेवाले औपशमिक अथवा क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही होने चाहिए; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीसरे गुणस्थान में नहीं आते; कारण कि उनके पास सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म की सत्ता ही नहीं है।

४. सादि मिथ्यादृष्टि, जिनके सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता अर्थात् अस्तित्व हो और कदाचित् उदय भी आवे तो वे इस तीसरे गुणस्थान में आते हैं।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव का मरण नहीं होता। यह मिश्ररूप श्रद्धा का परिणाम ही खोटा है। सम्यग्दर्शन सहित मरण होता है। मिथ्यात्व परिणाम के साथ तो जीव अनादिकाल से मरता ही आया है; लेकिन श्रद्धा की मिश्र अवस्था में मरण नहीं करता अर्थात् यह मिश्र परिणाम मरण के लिये भी योग्य नहीं है।

२. मिश्र गुणस्थान में मारणांतिक समुद्घात भी नहीं होता है।

मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व नवीन पर्याय धारण करने के क्षेत्र पर्यंत आत्मप्रदेशों के तैजस-कार्माणरूप उत्तर शरीर के साथ बाहर निकलने को मारणांतिक समुद्घात कहते हैं। मारणांतिक समुद्घात करनेवाला जीव नवीन भव के क्षेत्र/स्थान को स्पर्श करके वापिस मूल शरीर में आ जाता है।

जिन्होंने पर भव की आयु बांध ली हो, ऐसे जीवों के ही मारणांतिक समुद्घात हो सकता है; जिन्होंने परभव की आयु नहीं बांधी हो, उसे मारणांतिक समुद्घात नहीं होता है। जिसका अगले जन्म का क्षेत्र अर्थात् स्थान ही निश्चित न हो, उसे मारणांतिक समुद्घात कैसे होगा ?

एकेंद्रियादिक किसी भी बद्धायुष्क जीव को मारणांतिक समुद्घात हो सकता है, उसके लिये कुछ खास विशेषताओं की आवश्यकता नहीं है।

३. मिश्र श्रद्धावाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव जब तक इस तीसरे गुणस्थान में हैं, तब तक उन्हें अगले भव के आयु कर्म का बंध नहीं होता; क्योंकि मिश्र अवस्थारूप विपरीत भाव नये आयुकर्म के बंध के लिए अयोग्य हैं।

४. यदि तीसरे गुणस्थान में आने के पहले जीव ने मिथ्यात्व परिणाम के साथ आयुबंध किया हो तो मिथ्यात्व में जाकर मरण करता है और यदि तीसरे गुणस्थान में आने के पहले जीव ने सम्यक्त्व परिणाम के साथ आयुबंध किया हो तो वह जीव सम्यक्त्व में जाकर मरण करता है।

(विशेष के लिए देखिए जीवकाण्ड गाथा २४ सम्यग्ज्ञान चंद्रिका।)

५. अस्थिर श्रद्धावान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव मुनिजीवन के योग्य संयम को अथवा व्रती श्रावक के योग्य संयमासंयम परिणाम को प्राप्त नहीं कर पाता।

६. तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता जिस जीव को है, वे जीव इस तीसरे गुणस्थान में नहीं आते। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाले जीव एक अंतर्मुहूर्त मात्र के लिये मिथ्यात्व गुणस्थान में तो जा सकते हैं; परन्तु तीसरे मिश्र-सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं जाते।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १६७ से १७१)

सामान्य से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं।।११।।

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीव के समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टि होती है, उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

६. शंका – जिसतरह मिथ्यात्व के क्षयोपशम से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति बतलाई है; उसीप्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम से होता है – ऐसा क्यों नहीं कहा?

समाधान – नहीं; क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र का प्रतिबन्धक है, इसलिये यहाँ उसके क्षयोपशम से तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है।

जो अनन्तानुबन्धी कर्म के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत से सासादन गुणस्थान को औदयिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है; क्योंकि दूसरे गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया है।

अथवा, सम्यक् प्रकृति कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदयक्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकों का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है; इसलिये वह क्षायोपशमिक है। यहाँ इसतरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिक कहा है, वह केवल सिद्धान्त के पाठ का प्रारम्भ करनेवालों के परिज्ञान कराने के लिये ही कहा है।

वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूप से आप्त, आगम और पदार्थ-विषयक श्रद्धा के नाश करने के प्रति असमर्थ हैं; किन्तु उसके उदय से सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थ को युगपत विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है; इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है।

यदि इस गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सत् और असत् पदार्थ को विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है; क्योंकि उपशम सम्यक्त्व से तृतीय गुणस्थान में आये हुए जीव के ऐसी अवस्था में सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनों का उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।

७. शंका – उपशम सम्यक्त्व से आये हुए जीव के तृतीय गुणस्थान में सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनों का उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि इसतरह तो तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव मानना पड़ेगा।

८. शंका – तो तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव ही रहा आवे ?

समाधान – नहीं; क्योंकि तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव का प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाक्य नहीं है। अर्थात् आगम में तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव नहीं बताया है।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि कर्मों के क्षयोपशम से क्षयोपशम भाव की उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थान को भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा; क्योंकि सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व

गुणस्थान में भी सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय अवस्था को प्राप्त हुए स्पर्धकों का क्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति पाई जाती है। इतने कथन से यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्रभाव होता है। ❋

गुरुभक्ति का अन्यथा रूप

कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो – यह जैन के साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करनी – ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं। वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परिषह सहते हैं, किसी से क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरों को धर्म में लगाते हैं – इत्यादि गुणों का विचार कर उनमें भक्तिभाव करते हैं; परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक अन्यमतियों में तथा जैनी मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं, इसलिये इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

तथा जिन गुणों का विचार करते हैं, उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग वह ही मुनियों का सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते; क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहते नहीं। इसप्रकार यदि मुनियों का सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी ? पुण्यबन्ध के कारणभूत शुभक्रियारूप गुणों को पहिचानकर उनकी सेवा से अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-७, पृष्ठ-२५७**

४

अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान

चौथे गुणस्थान का नाम अविरतसम्यक्त्व है। इस गुणस्थान की विस्तारपूर्वक चर्चा करने के पहले चौथे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म का क्या निमित्तपना है; उसका स्पष्टीकरण करते हैं –

(१) यदि जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो तो दर्शनमोहनीय की तीन, दो या एक कर्म प्रकृति का और चारित्रमोहनीय की अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क कर्म प्रकृति का – इसतरह सात, छह अथवा पांच प्रकृतियों का उपशम रहता है।

(२) यदि जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो तो मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क इसतरह छह कर्म प्रकृतियों का क्षयोपशम अर्थात् सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम रहता है और देशघाति सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म का उदय रहता है।

इतना विशेष है कि अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व ये छहों प्रकृतियाँ उदयावलि में तो रहती हैं; परंतु उदय से एक समय पूर्व स्तिबुक संक्रमण द्वारा यथायोग्य अन्य प्रकृतियों में संक्रमित होकर उदय में आती हैं।

(३) यदि जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो तो मिथ्यात्वादि तीन दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का क्षय रहता है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २९ में अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है –

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

जो परिणाम सम्यग्दर्शन से सहित हो, परन्तु इन्द्रिय-विषयों से और त्रस-स्थावर की हिंसा से अविरत हो अर्थात् एकदेश या सर्वदेश किसी भी प्रकार के संयम से रहित हो, उस परिणाम को अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व के घातक कर्मों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो गया है। अत: व्यवहार और निश्चय दोनों सम्यग्दर्शन प्रगट हो गये हैं। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ, आंशिक वीतरागता, संवर-निर्जरा, सच्चासुख, सम्यग्ज्ञान - ये सभी यहाँ अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में एक साथ ही व्यक्त होते हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ जहाँ शुभ राग अर्थात् पुण्य परिणाम के विषय सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरु होते हैं, उसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। अत: दोनों सम्यग्दर्शन एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

चौथे गुणस्थान से ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध प्रारंभ होता है। तीर्थंकर नामकर्म के बंध का कार्य कोई जीव निश्चय सम्यग्दर्शन के अभाव में कैसे कर सकता है ?

साधक के जीवन में व्यवहार (व्यवहाराभास) के साथ निश्चय हो भी सकता है और नहीं भी हो - ऐसा भी सम्भव है, पर निश्चय के साथ साधक को व्यवहार अर्थात् यथार्थ व्यवहार तो नियम से होता ही है; ऐसा ही वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ भगवान के प्रतिपादित आगम में वर्णित है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में-मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ क्रमांक ३४४ पर लिखा है - **चौथे गुणस्थान में सिद्ध समान क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है।** अत: आगमानुसार सर्व कथन यथार्थ जानना चाहिए।

चौथे गुणस्थान में मात्र एक कषाय चौकड़ी का ही अभाव है। उस कारण आंशिक वीतरागता भी है; लेकिन न तो दो कषाय चौकड़ी का अभाव है और न अणुव्रतों का ग्रहणरूप राग भाव अर्थात् पुण्य परिणाम है। अत: चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के अविरति है।

अविरति का स्पष्टीकरण - पंचेंद्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति और षट्काय जीवों की हिंसा से अविरति - ये अविरति के बारह भेद हैं। उपर्युक्त अविरति का किंचित् भी त्याग इन जीवों को नहीं होता; परन्तु

अविरति में प्रवृत्ति हेयबुद्धि से रहती है तथा आगम अनुसार सदाचार तो अवश्य होता ही है।

स्पर्शनादि पाँच इंद्रियों के विषय - स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों में प्रवृत्त होना तथा यश, प्रसिद्धि आदि पापरूप विकल्पों में मन से प्रवृत्ति करना; इसे इंद्रियों और मन के विषयों में प्रवृत्ति कहते हैं। यह पाँच प्रकार की इंद्रियों और मन से संबंधित छह भेदरूप अविरति हो गयी। अविरत सम्यग्दृष्टि के जीवन में इसप्रकार छह प्रकार की अविरति तो पूर्वसंस्कारवश हेयबुद्धि से रहती ही है।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को पाँच स्थावर काय कहते हैं अर्थात् एकेंद्रिय जीवों को स्थावर कहते हैं। द्विइंद्रियादि से लेकर संज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत के सर्व जीवों को त्रस कहते हैं।

पाँच स्थावरकाय और एक त्रसकाय - इसप्रकार षट्काय जीव हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन छह काय जीवों की हिंसा को न चाहते हुए भी उनकी हिंसा से पूर्व संस्कारवश एवं अपनी कमजोरी के कारण विरत नहीं है। इसतरह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय असंयम और प्राणी असंयम के कारण अविरत है। इस अविरति में अप्रत्याख्यानावरणकषाय कर्म का उदय भी निमित्तरूप रहता है।

देखो परिणामों की विचित्रता ! सम्यग्दर्शन हो गया है, **बीच-बीच में यथायोग्य कालावधि व्यतीत होने पर आत्मानुभव भी होता है।** गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव तो हो ही गया है। **अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक आंशिक वीतरागता प्रगट हो गयी है। जीवन अन्याय, अनीति और अभक्ष्य से रहित है। अनंत संसार को सांत/सीमित किया है;** तथापि बारह प्रकार की अविरति होते हुए भी मोक्ष की साधना करनेवाला साधक के पुरुषार्थ की कमी से यह जीव इंद्रियसंयम और प्राणीसंयम के अभाव के कारण अविरत ही है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २६ में अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार भी दी है -

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खयादु खइयो य।
बिदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य॥

अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के उदय से असंयत होने पर भी पाँच, छह या सात (अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन) प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की दशा में होनेवाले जीव के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भावों को अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

प्रथम 'अप्रत्याख्यान' शब्द का अर्थ करेंगे। 'अ' शब्द का अर्थ किंचित्। 'प्रत्याख्यान' शब्द का अर्थ त्याग है। जो कषायकर्म किंचित् भी त्याग न होने में निमित्त है, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषायकर्म कहते हैं।

जैसे – जीव जब अपने पुरुषार्थ की हीनता से किंचित् भी अर्थात् अणुव्रतरूप भी संयमासंयम भाव प्रगट नहीं करता अथवा महाव्रतरूप संयमभाव भी प्रगट नहीं करता तब अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय कर्मों का निमित्तरूप से उदय रहता ही है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – ये तीनों सम्यक्त्व रह सकते हैं। एक जीव को एक समय में एक ही सम्यक्त्व रहता है। तीनों सम्यक्त्वों में यथार्थ श्रद्धारूप धर्म की अपेक्षा से समानता होने पर भी अन्य अपेक्षाओं से असमानता भी है। प्रथम समानता को कहते हैं –

१. तीनों ही सम्यक्त्वी के नवीन कर्मों के बंध की अपेक्षा से समानता है; तीनों सम्यक्त्वों में ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं होता।

२. तीनों सम्यक्त्वी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ही हैं।

अब असमानता को कहते हैं – प्रथम क्षायिक सम्यक्त्वी की विशेषता को बताते हैं –

१. क्षायिक सम्यक्त्व के पहले दो बार त्रिकरण परिणाम होते हैं। प्रथम त्रिकरण परिणाम द्वारा अनंतानुबंधी चतुष्क का विसंयोजन होता है, फिर दर्शनमोहनीय के नाश के लिए त्रिकरण परिणाम होता है। जबकि औपशमिक सम्यक्त्व के लिए एक बार ही त्रिकरण परिणाम आवश्यक रहता है।

२. औपशमिक सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व विरोधी सातों प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है। एवं काल भी अंतर्मुहूर्त मात्र है, जबकि **क्षायिक सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व–विरोधी सातों प्रकृति की सत्ता नहीं है और काल सादि अनंत है,** अत: नित्य है।

३. क्षायिक सम्यग्दृष्टि समय–समय प्रति गुणश्रेणी निर्जरा करता है।

४. पूर्व में मनुष्य या तिर्यंचायु का बंध न होने की दशा में उसी भव में अथवा तीसरे ही भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा असमानता को कहते हैं –

१. इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने से चल–मल–अगाढ दोष होते हैं।

२. इसके नाश होने में देर नहीं लगती।

३. यह सम्यक्त्व पल्य के असंख्यातवें भाग बार छूट सकता है।

४. इसके लिए त्रिकरण परिणाम आवश्यक नहीं हैं।

५. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, इस कारण ही इस सम्यक्त्व के साथ श्रेणी चढ़ने का अपूर्व पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जो, जितना और जैसा भेद है उसे भी स्वीकार करना चाहिए। **(उपशम आदि की परिभाषाएँ प्रश्नोत्तर विभाग में हैं, वहाँ अवलोकन करें।)**

सम्यक्त्व का काल –

औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य काल तथा उत्कृष्ट काल भी अंतर्मुहूर्त ही है; तथापि जघन्य काल से उत्कृष्ट काल संख्यात गुणा अधिक है। अंतर्मुहूर्त काल के असंख्यात भेद हैं; इसलिए उसके छोटा अंतर्मुहूर्त, बड़ा अंतर्मुहूर्त, मध्यम अंतर्मुहूर्त ऐसे अनेक भेद हैं।

क्षायोशमिक सम्यक्त्व का जघन्य काल मात्र अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल ६६ सागर है। अथवा एक अंतर्मुहूर्त कम एक ६६ सागर के बाद एक अंतर्मुहूर्त के लिए मिश्र गुणस्थान में आकर पुन: क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ ६६ सागर तक रह सकता है। यथायोग्य अंतर्मुहूर्त अधिक एक समय, दो समय आदि से लेकर अंतर्मुहूर्त कम ६६ सागर पर्यंत बीच में होनेवाले काल के सर्व भेद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के मध्यमकाल के प्रकार हो सकते हैं।

३४. प्रश्न : प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व के होने के बाद एक बार मिथ्यात्व में जाना अनिवार्य है क्या ?

उत्तर : नहीं, प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व होने पर कुछ जीव मिथ्यात्व में जा सकते हैं; किन्तु मिथ्यात्व में जाना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं।

इस विषय के विशेष स्पष्ट खुलासा के लिए धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २४२ (१,९,८,९) गाथा १२ तथा जयधवला पुस्तक १२ गाथा १०३ एवं १०५ को टीका के साथ देखिए।

यहाँ गाथा क्रमांक १०५ का अर्थ एवं टीका का अनुवाद दे रहे हैं –

सम्यक्त्व के प्रथम लाभ के अनन्तर पूर्व पिछले समय में मिथ्यात्व ही होता है। अप्रथम लाभ के अनन्तर पूर्व पिछले समय में मिथ्यात्व भजनीय है।।११-१०५।।

यह गाथा सम्यक्त्व को ग्रहण करनेवाले जीव के अनन्तर पूर्व पिछले समय में क्या मिथ्यात्व का उदय है अथवा नहीं है ऐसी पृच्छा होने पर उसका निर्णय करने के लिए आई है। अब इसका अर्थ कहते हैं। यथा – अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का जो प्रथम लाभ होता है उसके 'अणंतरं पच्छदो' अर्थात् अनन्तरपूर्व पिछली अवस्था में मिथ्यात्व ही होता है; क्योंकि उसके प्रथम स्थिति का अन्तिम समय प्राप्त होने तक मिथ्यात्व के उदय को छोड़कर प्रकारान्तर सम्भव नहीं है।

'लंभस्स अपढमस्स दु' अर्थात् जो नियम से अप्रथम अर्थात् द्वितीयादि बार सम्यक्त्व का लाभ है उसके अनन्तरपूर्व पिछली अवस्था में मिथ्यात्व का उदय भजनीय है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदकसम्यक्त्व या उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करता है और कदाचित् सम्यग्दृष्टि होकर वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त करता है यह उक्त गाथा-सूत्र का भावार्थ है।

(जयधवला पुस्तक १२, पृष्ठ ३१७)

३५. प्रश्न : जिसने आज ही सम्यक्त्व की प्राप्ति की है और जिसने अनेक वर्षों से पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति की है – इन दोनों जीवों की श्रद्धा की व चारित्र की शुद्धि में कुछ अंतर होगा या नहीं ?

उत्तर : सामान्य कथन की अपेक्षा से दोनों को मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी एक ही कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक व्यक्त वीतरागता समान रहती है; तथापि शेष तीन कषाय चौकड़ी के मंद, मंदतर, मंदतम उदयानुसार तथा व्यक्तिगत पुरुषार्थ के अनुसार अंतर भी रहता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

सम्यग्दर्शन अकेला नहीं होता। उसके साथ ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् होते ही हैं; इतना ही नहीं आत्मा के अन्य अनंत गुणों में भी आंशिक शुद्धता प्रगट होती है। **सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व –** ऐसा उल्लेख भी आगम में मिलता है। इसका भाव यह है कि सम्यक्त्व होने पर आत्मा के चारित्र आदि अनंत गुणों में सम्यक्पना नियम से हो जाता है। व्रतरूप संयम न होने से चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत कहा है; फिर भी सम्यग्दर्शन का अविनाभावी अनन्तानुबंधी के अभावपूर्वक होनेवाला सम्यक्त्वाचरण/स्वरूपाचरण चारित्र तो होता ही है।

अणुव्रतों या महाव्रतों का पालन न होने से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को चरणानुयोग असंयमी कहता है। गुणस्थान यह विषय करणानुयोग का है और करणानुयोग इस सम्यग्दृष्टि को अविरत ही कहता है।

अब करणानुयोग की ही अन्य अपेक्षाओं से थोड़ा विचार करते हैं। चारित्रमोहनीय कर्म की अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी इस चौथे गुणस्थान में नियम से नहीं है। इस कषाय चौकड़ी के अभाव से चारित्र गुण में आंशिक निर्मलता या अल्प वीतरागता यहाँ चौथे गुणस्थान में व्यक्त होती है। अत: चारित्र का बीज/अंश यहाँ प्रगट हो गया है। **सूक्ष्म विषयों का कथन करनेवाले करणानुयोग शास्त्र की दृष्टि से सतर्क सिद्ध होने से यहाँ चारित्र प्रमाणित ही है।** तथा इसके बाधक कारण का भी अभाव है।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा भी चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र हैही। वस्तुत: तो स्वरूप में आचरण करना ही चारित्र है। इसी विषय को आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा क्रमांक सात की टीका में स्पष्ट कहा है – ''स्वरूप में चरण करना (रमना) सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना (अपने स्वभाव में प्रवृत्ति करना) ऐसा इसका अर्थ है।'' आचार्य श्री जयसेन ने भी कहा है – **शुद्धचैतन्य स्वरूप में चरण/प्रवृत्ति/लीनता चारित्र है।**

आचार्य कुंदकुंद ने इसे ही 'सम्यक्त्वाचरण चारित्र' नाम दिया है। चौथे गुणस्थान में यदि आंशिक वीतरागता प्रगट हो गयी है तो चारित्र तो है ही।

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी या सहचारी होने से स्वरूपाचरण चारित्र को ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र नाम दिया गया है।

सिद्धों को अनंत अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो जाता है। उनके अनंत सुख का अनंतवें भागरूप सच्चा सुख सम्यग्दृष्टि को भी प्रगट हो गया है; क्योंकि उसने अनंत संसार को आत्मस्वभाव के यथार्थ श्रद्धान से सीमित कर दिया है।

करणानुयोग की अपेक्षा से भी अनंतानुबंधी चारित्रमोहनीय कर्म का अनुदयरूप अभाव होने से अर्थात् प्रतिबंधक कारण का अभाव होने से वीतरागता की अभिव्यक्तिरूप चारित्र सिद्ध होता ही है।

सम्यक्त्वाचरणचारित्र शब्द का प्रयोग आचार्य श्री कुंदकुंद ने अष्टपाहुड ग्रंथ के चारित्र पाहुड की गाथा ८ व ९ में किया है। स्वरूपाचरण चारित्र शब्द का प्रयोग – धवला पुस्तक एक पृष्ठ १६५ में और पण्डित सदासुखदासजी कृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में अनेक जगह आया है।

गुरु गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के क्रमांक २२२ प्रश्न के उत्तर में स्वरूपाचरण चारित्र दिया है एवं प्रश्न २२३ के उत्तर में स्वरूपाचरण चारित्र की परिभाषा बताई है।

काल अपेक्षा विचार –

चौथे गुणस्थान के इस प्रकरण में ही पहले सम्यक्त्व के काल का वर्णन किया है और अब यहाँ अविरतसम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान के काल विषयक स्पष्टीकरण किया जाता है।

जघन्य काल – चौथे गुणस्थान का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है। चारों गतियों में जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है। एक भव से अन्य भव में सम्यक्त्व लेकर जा भी सकता है।

यदि कोई जीव एकदेश संयम या सर्वदेश संयम के बिना अर्थात् पाँचवें अथवा छठवें-सातवें गुणस्थान के बिना मात्र सम्यग्दर्शन सहित चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में कम से कम काल रहे तो वह मात्र एक अंतर्मुहूर्त ही रह सकता है।

एक अंतर्मुहूर्त से कम अर्थात् एक समय, दो, तीन, चार समय आदि

अथवा एक आवली काल पर्यंत नहीं रह सकता है। यह अविरतसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के जघन्य काल का कथन हुआ।

उत्कृष्ट काल – साधिक तेतीस सागर है। अनुत्तरवासी देवों में एक समय कम तेतीस सागर पर्यंत अविरतसम्यक्त्व अर्थात् चौथा गुणस्थान रहता है। अनुत्तरवासी देव स्वर्ग से च्युत होकर पूर्वकोटि वर्ष की आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर वे अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रह जाने तक अविरतसम्यग्दृष्टि होकर रहे तो एक समय कम तेतीस सागर और अंतर्मुहूर्त कम कोटि पूर्व काल पर्यंत चौथे गुणस्थान का उत्कृष्ट काल होता है। **(धवला पुस्तक ४, पृष्ठ : ३४७-३४८)**

इस अपेक्षा अविरतसम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर होता है।

सातवें नरक में नारकियों की अपेक्षा छह अंतर्मुहूर्त कम तेतीस सागर काल अविरतसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान का है।

धवला में इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है – मोह कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता रखनेवाला एक तिर्यंच अथवा मनुष्य मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। वह छहों पर्याप्तियों से पर्याप्त होकर (१) विश्राम लेता हुआ (२) विशुद्ध होकर (३) वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण आयुकर्म की स्थिति के अवशेष रहने पर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। (४) वहाँ आगामी भव की आयु को बांधकर (५) अंतर्मुहूर्त काल विश्राम लेकर (६) निकला। इसप्रकार छह अंतर्मुहूर्त कम ३३ सागर काल पर्यंत नरकगति में अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान रहता है। **(धवला पुस्तक ४, पृष्ठ ३५९)**

मनुष्य तथा तिर्यंच गति की अपेक्षा अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान का काल अनुक्रम से साधिक तीन पल्य एवं तीन पल्य है।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४१, ४२)

मध्यम काल – एक अंतर्मुहूर्त से लेकर साधिक तेतीस सागर काल के बीच में जितने भी भेद हो सकते हैं, वे सर्व अविरतसम्यक्त्व के चौथे गुणस्थान के मध्यम काल के प्रकार समझना चाहिए।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. कोई अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज हो, यदि वे अपने त्रिकाली निज शुद्धात्मा का विशिष्ट पुरुषार्थ पूर्वक ध्यान करते हैं तो वे तुरंत अगले समय में सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में गमन करते हैं अर्थात् भावलिंगी मुनिराज बन जाते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में तो एक कषाय चौकड़ी के अभाव से उत्पन्न वीतराग परिणति सहित थे और सातवें में जाते ही तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त महान वीतरागता के अपूर्व आनंद का रसास्वादन करने लगते हैं।

३६. प्रश्न : क्या चौथे से सातवें गुणस्थान में जानेवाले मुनिराज को यह अपूर्व परिवर्तन समझ में आता है ?

उत्तर : क्यों नहीं ? अवश्य समझ में आता है। जो आत्मा क्रोधादि विभावभावों का अनुभव कर सकता है तो वही आत्मा चारित्र गुण के व्यक्त सुखद स्वभाव परिणमन का अनुभव क्यों नहीं कर सकेगा ? यथा पदवी व्यक्त वीतरागता से उत्पन्न आनंद का अनुभव मुनिराज अवश्य करते ही हैं। उन्हें गुणस्थान को जानने का विकल्प नहीं होता; अत: गुणस्थान का ज्ञान नहीं होता।

२. चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रती द्रव्यलिंगी श्रावक चौथे गुणस्थान से देशविरत नामक पंचम गुणस्थान में भी प्रवेश/गमन कर सकते हैं।

पहले से चौथे गुणस्थान में प्रवेश करना हो अथवा चौथे से ऊपर के किसी भी गुणस्थान में प्रवेश करना हो, तो निज शुद्धात्मा का ज्ञान तथा ध्यान अनिवार्य है। **शुद्धोपयोग पूर्वक ही चतुर्थ गुणस्थान में व इससे ऊपर के गुणस्थानों में जाना सम्भव है। ऐसा होने पर जहाँ जितने कर्मों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय होना होता है, वे सभी कार्य भी एक साथ अपने आप ही हो जाते हैं।**

३७. प्रश्न : मिथ्यात्व गुणस्थान से सातवें अप्रत्तसंयत गुणस्थान में और चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में द्रव्यलिंगी मुनिराज ही गमन करते हैं; ऐसा क्यों कहा ? कोई भी व्रती

या अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक सातवें में गमन करके छठवें गुणस्थान में आकर बाह्य दिगम्बर मुनिदीक्षा धारण क्यों नहीं कर सकते ?

उत्तर : जब तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयरूप अभावपूर्वक वीतरागता व्यक्त होती है, तब कपड़े पहनने का राग परिणाम ही नहीं रहता और रागभाव नहीं रहने से कपड़े आदि बाह्य परिग्रह भी नहीं रहते – यही सुमेल है। राग परिणाम कपड़े पहनने का काम कराता है, जब राग ही नष्ट हो गया तो कपड़े पहनेगा कौन ? बाह्य परिग्रह के अभावपूर्वक ही अप्रमत्तपने का सुमेल है। ऐसा ही दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसलिए सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की प्राप्ति के पहले ही कपड़े आदि सर्व बाह्य परिग्रह का बुद्धिपूर्वक त्याग पहले, चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थान में कषाय के मंद, मंदतर एवं मंदतम उदय में हो ही जाता है। अत: द्रव्यलिंगी मुनिराज ही सातवें गुणस्थान में गमन करते हैं।

३८. प्रश्न : आपके इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्यलिंग प्रथम होता है और भावलिंग की प्राप्ति बाद में होती है; क्या आप यही कहना चाहते हैं ?

उत्तर : हाँ, द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग होता है; ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।

३९. प्रश्न : सामान्य जनों के लिए तो द्रव्यलिंगपूर्वक भावलिंग होने का नियम ठीक है; पर तीर्थंकर आदि महापुरुषों को तो पहले भावलिंग हो जाता होगा ?

उत्तर : नहीं, **एक होय तीन काल में, परमारथ का पंथ।**

जिनधर्म में तो किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए भी मोक्षमार्ग या मोक्षप्राप्ति के उपाय में कुछ छूट नहीं है। **वस्तुस्वरूप तो सब के लिए समान ही होता है।** जैसे – वैराग्य उत्पन्न होनेपर तीर्थंकर होनेवाले युवा महावीर ने भी वन में जाकर अलंकार, मुकुट आदि आभूषण और वस्त्रों का बुद्धिपूर्वक त्याग किया; केशलोंच करके दिगम्बर मुनि हुए।

इसतरह द्रव्यलिंग को धारण करके मुनि होकर वे ध्यान में बैठ गये और शुद्धोपयोग में अपने निज शुद्धात्मा का ध्यान कर लिया, तब ही तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त हुए थे और भावलिंगी मुनिराज बने थे।

इसतरह तीर्थंकर होनेवाले युवक महावीर को भी द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग हुआ है। इसतरह द्रव्यलिंग और भावलिंग का परस्पर सुमेल सब जीवों के लिए अनादि से है और आगे भी अनंत काल पर्यंत रहेगा; ऐसा समझना चाहिए।

४०. प्रश्न : तीर्थंकर तो अपनी आठ वर्ष की उम्र में ही पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक हो जाते हैं; ऐसा हमने पार्श्वपुराण शास्त्र में पढ़ा है। उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर : पार्श्वपुराण प्रथमानुयोग का शास्त्र है। वहाँ स्थूलरूप से सामान्य कथन किया है। वहाँ तीर्थंकर होनेवाले ८ वर्ष के बालक का बाह्य आचरण पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक के समान होता है; यह समझाने का भाव है। **आचार्यों ने बालक तीर्थंकर के आदर्श जीवन को प्रस्तुत करके साधक जीवों को उन जैसे जीवन बनाने के लिए प्रेरणा दी है।**

वस्तुत: बात यह है कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट पदवी धारक महापुरुषों के अणुव्रतरूप अल्प पुरुषार्थ नहीं होता। वे तो सीधे महाव्रतों को ही अंगीकार करते हैं; क्योंकि उनका पुरुषार्थ महान ही होता है।

४१. प्रश्न : आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड-भावपाहुड के गाथा ७३ में तो प्रथम भावलिंग प्रगट करो, तदनंतर द्रव्यलिंग के स्वीकार करने की प्रेरणा दी है। उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : आचार्यश्री ने उस गाथा में सम्यग्दर्शन को भावलिंग कहा है। **मिच्छत्ताईं य दोस चइऊणं** का अर्थ है मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर। आचार्यश्री को वहाँ सम्यग्दर्शन अर्थ अभिप्रेत है। सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपने का यथार्थ पुरुषार्थ प्रगट ही नहीं होता; अत: अनादिनिधन मार्ग तो यही है कि **पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना और तदनंतर संयम धारण करना। मिथ्यात्व की ग्रंथि निकालना ही प्रथम दृष्टि की अपेक्षा निर्ग्रंथता है।**

आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने **णग्गो ही मोक्खमग्गो** नग्नता ही मोक्षमार्ग है; ऐसा स्पष्ट कहा है।

४२. प्रश्न : फिर आचार्यश्री कुन्दकुन्द के वचनानुसार बाह्य नग्नता को ही मोक्षमार्ग और मुनिपना क्यों न मान लिया जाय ? तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयरूप वीतरागता की क्या जरूरत है ?

उत्तर : णग्गो हि मोक्खमग्गो यह कथन व्यवहार नय का है; जो बाह्य निमित्त की अपेक्षा से सही होने पर भी निश्चय की अपेक्षा रखता है। एक ही नय के विषय को स्वीकार करने से मिथ्यात्व का प्रसंग आता है। अत: शरीर की नग्नता आदि २८ मूलगुणमय द्रव्यलिंग का पालन करनेरूप रागभाव अर्थात् पुण्यमय परिणाम और तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय से व्यक्त वीतरागभाव - इन दोनों के सद्‌भाव से ही छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका बनती है।

अब चौथे गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में गमन करने के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

३. चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म की सत्ता हो और उसकी निर्मल श्रद्धा अपने ही अपराध से या पूर्व कुसंस्कारवश मिश्र भावरूप हो जाये तो उसीसमय मिश्र कर्म का उदय आने से वह तीसरे मिश्र गुणस्थान में प्रवेश करता है।

४. यह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती यदि औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो और स्वयमेव ही विपरीत पुरुषार्थ से उसे अनंतानुबंधी कषाय परिणाम हो जाये तो उसीसमय अनंतानुबंधी कषाय कर्म का उदय भी स्वयमेव आता है और यह जीव सासादनसम्यक्त्व नामक दूसरे गुणस्थान में गमन करता है।

५. यदि **(क्षायिक सम्यग्दृष्टि को छोड़कर)** किसी अविरतसम्यग्दृष्टि की परिणति मिथ्यात्वभावरूप हो जाये और उसीसमय मिथ्यात्व कर्म का उदय भी आ जावे तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रवेश करता है।

आगमन - १. सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव शुद्धात्मा के आश्रय से मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

२. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों का भी शुद्धात्मा के आश्रय से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में आगमन हो सकता है।

३. देशविरत गुणस्थानवर्ती जीवों का अपनी पुरुषार्थ-हीनता से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में आना संभव है।

४. छठवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज भी अपने पुरुषार्थ की कमी से सीधे चौथे गुणस्थान में आ सकते हैं।

उपरिम गुणस्थानों से नीचे के गुणस्थानों में आये हुए मुनिराज तो तत्काल ही आत्माश्रित ध्यान-मग्नता का विशेष पुरुषार्थ करके सातवें अप्रत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचकर प्रचुर स्वसंवदेनरूप विशिष्ट अनुपम आनंद का अनुभव करते हैं।

प्रयत्न करने पर भी मुनि-दशा के योग्य छठवें-सातवें गुणस्थानरूप भावलिंग की प्राप्ति नहीं होती; तो स्वयं ही मुनिभेष/द्रव्यलिंग का त्याग करना, यह उपाय नहीं है। प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में ही नहीं यथार्थ मुनिपना प्राप्त करने के लिए बुद्धिपूर्वक सतत प्रयास करते ही रहना अति आवश्यक है। जैसे आचार्य वारिषेण के शिष्य पुष्पडाल ने प्रयास किया है। आचार्य ने भी अपने शिष्य को मुनि-पद में स्थिर करने के ही अनेक उपाय किये हैं।

आगम के अध्ययन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अनेक दिगम्बर मुनिराज अपने मुनि-जीवन अर्थात् मनुष्य जीवन के अंतिम समय पर्यंत द्रव्यलिंगी मुनिराज ही बने रहते हैं और अगले भव में नव ग्रैवेयक में भी जन्म ले सकते हैं। नव ग्रैवेयक में द्रव्यलिंगी मुनिराज जन्म लेते हैं, यह कथन आगम में सर्वत्र मिलता है। इससे हमें यही निर्णय आगमानुसार उचित प्रतीत होता है कि गृहीत व्रतों का त्याग करना उपाय नहीं है। व्रतों के अनुसार आंतरिक जीवन धर्ममय बनाना कर्तव्य है।

४३. प्रश्न : रत्नकरण्डश्रावकाचार के रचयिता आचार्य समन्तभद्र ने अपने पूर्व जीवन में भस्मक रोग होने के कारण और आचार्य आर्यनन्दी ने (क्षत्रचूड़ामणि में उल्लेखित) भी मुनिपद का त्याग किया है; यह विषय शास्त्र में आया हुआ है। अत: आप इसे स्पष्ट समझाइए।

उत्तर : उनके जीवन का उदाहरण लेना हो तो आचार्य समन्तभद्र के प्रभावना कार्य का एवं आचार्य आर्यनन्दी के मुक्ति-प्राप्त करनेरूप आदर्श पुरुषार्थ का लेना चाहिए। मुनिपद का त्याग तो अपरिहार्य कारण से एवं गुरु के उपदेश से हुआ है।

जो जीवन सर्वोत्तम न हो उसके अनुसरण का विचार अपने मनोभूमिका की मलिनता को ही स्पष्ट करता है। अत: गृहीत व्रतों के त्याग का विचार करना सही मार्ग नहीं है। वास्तविक देखा जाए तो गृहीत व्रतों के निर्दोष पालन के साथ निज शुद्धात्मा के ध्यान से भावलिंग प्रगट करने का अविरत प्रयास ही श्रेयस्कर उपाय है।

५. उपशम श्रेणी की अपेक्षा उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में मरण हो जाय तो सीधे चौथे गुणस्थान में आते हैं अर्थात् मरण के अंत समय पर्यंत तो श्रेणी का वही गुणस्थान रहता है; किन्तु विग्रहगति में प्रथम समय से ही चौथा गुणस्थान हो जाता है।

४४. प्रश्न : सादि वा अनादि कोई भी मिथ्यादृष्टि मनुष्य क्या मिथ्यात्व से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की प्राप्ति कर सकता है या उसकी कुछ विशिष्ट पात्रता आवश्यक है?

उत्तर : दोनों मिथ्यादृष्टियों को सम्यक्त्व के लिये पुरुषार्थ एवं पात्रता समान ही होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि जिनकी पात्रता विशेष होती है वे शीघ्र ही सम्यक्त्वरूपी रत्न को उपलब्ध कर सकते हैं। विशिष्ट कारणों से पात्रता को प्राप्त मिथ्यादृष्टि ही अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की प्राप्ति कर सकता है; सर्व अथवा कोई भी मिथ्यादृष्टि नहीं।

४५. प्रश्न : अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की प्राप्ति के लिए पात्रता का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : गृहीत मिथ्यात्व का पूर्ण त्याग आवश्यक है। रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को मानने, पूजनेवाले गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव को चौथा अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता। वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी देव ही सच्चे देव हैं; वीतरागता की पोषक वाणी ही सच्चे शास्त्र हैं, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी दिगम्बर साधु ही गुरु हैं; ऐसा दृढ़ श्रद्धावान मिथ्यादृष्टि ही सम्यग्दृष्टि होने के लिए पात्र हैं।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की अंतरंग-बहिरंग लक्षण दृष्टि से निर्णयात्मक ज्ञान-श्रद्धा के बिना कोई कितना ही प्रयास करे, वह जीव अविरतसम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। देव, शास्त्र, गुरु – इन तीनों में से किसी एक का भी यथार्थ श्रद्धान न हो तो तीनों का सच्चा श्रद्धान नहीं है।

अन्याय, अनीति और अभक्ष्य के बाह्य त्यागमय सदाचारी जीवन के बिना धर्म समझ में आना भी कठिन है। जैन कुलाचार पालन करनेवालों को अर्थात् अष्ट मूलगुणों **(मद्य, मांस, मधु – इन तीन मकार और पंच उदम्बर फलों का त्यागरूप अष्टमूलगुणों)** को धारण किए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति की पात्रता भी नहीं आ सकती है।

अन्याय – जिस काम को सरकार भी अयोग्य मानती है, दण्डयोग्य समझती है, मनुष्य को जेल में डालती है, देश से बाहर निकाल देती है, फाँसी आदि की सजा देती है; ऐसा कोई भी काम करनेवाला मनुष्य अन्यायी है और वह सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अपात्र है।

अनीति – जिस काम के कारण जैन समाज अथवा जैनेतर समाज भी मनुष्य की निंदा करे, ऐसा कार्य अनीति की कोटि में आता है। **जैसे** – वृद्ध माता-पिता की सेवा नहीं करना, दूसरों की निंदा करते रहना, लौकिक नीति से विरुद्ध आचरण रखना आदि। **(अधिक जानकारी के लिए भावदीपिका शास्त्र का औदयिक भावाधिकार देखें)**

अभक्ष्य – जिस खान-पान की जैन शास्त्रों में सहमति नहीं है; ऐसे वस्तुओं के भक्षण को अभक्ष्य कहते हैं। जैसे – अनंतकाय जीव जिसमें हैं; ऐसे पदार्थ – प्याज, लहसुन, मूली, आलू, शकरकंद, गाजर आदि जमीकन्द का भक्षण, रात्रिभोजन करना, अनगालित (अनछना) जलपान आदि सब अभक्ष्य की कोटि में गिने जाते हैं। इसतरह अन्याय, अनीति और अभक्ष्य के बुद्धिपूर्वक त्यागी पात्र जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति के अधिकारी समझना चाहिए।

सप्तव्यसन और तीव्र हिंसादि पापों का त्याग तो नामधारी जैन भी करता ही है। सप्तव्यसनादि के त्याग के लिए जैन मनुष्य को समझाना जैन मनुष्य का अपमान करने जैसा है।

इस विषयक मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २६१ पर अत्यंत मार्मिक कथन आया है, उसे उस शास्त्र के शब्दों में ही देखिए – ''..... **किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप, सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। देवादिक की प्रतीति का तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिक का नियम नहीं है। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व; पश्चात् ही व्रतादिक को धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं.....।**''

४६. प्रश्न : अणुव्रतों या महाव्रतों का स्वीकार करना सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है या नहीं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए अणुव्रतों अथवा महाव्रतों का पालन करना आवश्यक नहीं है। हाँ, यदि सम्यग्दर्शन के पहले कदाचित् बाह्य व्यवहार व्रत ले लिए हों तो उनके पालते हुये भी तत्त्वचिंतन की मुख्यता हो तो सम्यग्दर्शन हो सकता है; परन्तु व्रतों के बिना भी अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. अविरतसम्यग्दृष्टि को विशिष्ट प्रशस्त राग के कारण ही तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म का बंध प्रारंभ होता है। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। इन सोलह भावनाओं में भी मुख्यरूप से तो एक दर्शनविशुद्धि भावना ही कारण है। यह एक भावना हो और अन्य पन्द्रह भावनाएँ हीनाधिक भी हों तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

यह एक भावना ही अन्य सभी भावनाओं की उत्पादक है।

सब जीवों का परमकल्याण हो, सब जीव मेरे समान मोक्षमार्गी होकर सुखी बनें – ऐसी सम्यग्दर्शनपूर्वक लोक-कल्याण की अखंड भावना का नाम ही दर्शनविशुद्धि भावना है।

चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक कहीं भी तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म का बंधना प्रारम्भ हो सकता है। आठवें गुणस्थान के छठवें भागपर्यंत तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है; परंतु उदय तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानों में ही रहता है, जिसकारण बाह्य में समवशरण की प्राप्ति होती है।

२. इस अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से ही जीव को पारमार्थिक अतीन्द्रिय सुख का अंश प्रगट होता है। विपरीत श्रद्धानी अर्थात् प्रथम गुणस्थान से तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पर्यंत तीनों गुणस्थानवर्ती सर्व जीव नियम से दुःखी ही हैं। पूर्व पुण्योदय के उदय से कुछ जीवों को बाह्य अनुकूल वस्तुओं के संयोग में सुख जैसा लगता है; परंतु वह सच्चा सुख नहीं है।

वीतरागता/समताभाव ही सच्चा सुख है। यह सुख यथार्थ श्रद्धा के साथ ही उत्पन्न होता है। यथार्थ श्रद्धा आत्मानुभवपूर्वक ही होती

है। आत्मानुभव के लिए अनंत सर्वज्ञ भगवंतों द्वारा कथित देव–शास्त्र–गुरु, षड्द्रव्य और सप्ततत्त्वों के भेदज्ञानपूर्वक यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

सात तत्त्वों में भी ''मैं भगवान आत्मा अनादि–अनंत, सहज, शुद्ध स्वरूपी ही हूँ,'' ऐसी मान्यता/श्रद्धा/प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

३. सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण ही जीव अंतरात्मा संज्ञा को प्राप्त होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव अंतरात्मा ही हैं। इनमें भी चौथे गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अंतरात्मा हैं। पाँचवें–छठवें गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं और सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज उत्तम अंतरात्मा हैं।

४. 'अविरतसम्यक्त्व' इस नाम में जो 'अविरत' शब्द है, वह अंत दीपक है अर्थात् प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव अविरत ही हैं। **जैसे** – अविरत मिथ्यात्व, अविरत सासादन–सम्यक्त्व और अविरत सम्यग्मिथ्यात्व; क्योंकि मिथ्यात्व से लेकर चौथे गुणस्थानपर्यंत के सर्व जीव सामान्यतया अविरत ही हैं; तथापि प्रत्येक की अविरति में महान अन्तर है।

५. मिथ्यात्व से रहित होने के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा की अपेक्षा **'दृष्टिमुक्त'** कहते हैं।

मुक्ति के अनेक भेद निम्नप्रकार समझ सकते हैं –

१) जिस जीव की श्रद्धा यथार्थ हो गयी, उसे **दृष्टिमुक्त** कहते हैं।

२) बारह प्रकार की अविरति से अतीत होने के कारण छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज **अविरतिमुक्त** हैं।

३) पंद्रह प्रमादों से अतीत होने के कारण अप्रमत्तसंयत आदि आगे के चार गुणस्थानवर्ती जीवों को **प्रमादमुक्त** कहते हैं।

४) उपशांत मोह व क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती सर्व जीवों को **मोहमुक्त** कहना योग्य है।

५) सयोग–अयोग केवलियों को **जीवनमुक्त** कहना स्वाभाविक है; इन्हें ईषत् सिद्ध भी कहते हैं।

६) गुणस्थानातीत जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित होने के कारण सिद्ध जीवों को **'देहमुक्त'**/साक्षात् मुक्त कहते हैं। अब किसी से मुक्त होना उन्हें शेष नहीं रहा। मोक्षमार्ग अर्थात् मुक्त होने का प्रारंभ तो सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से होता है।

६. भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रारंभ चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से ही होता है। जो जीव मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) प्रगट करने की शक्ति रखता है, उसे भव्यजीव कहते हैं।

चौथे गुणस्थान में मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है और सिद्ध अवस्था में भव्यत्व शक्ति का फल प्राप्त होता है। इस अपेक्षा से सिद्ध अवस्था में भव्यत्व शक्ति का अभाव बताया गया है।

जैसे – **सिद्ध अवस्था की प्राप्ति जीव को नियम से निज शुद्धात्मा के ध्यान से ही होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी नियम से शुद्धात्मा के ध्यान से ही होती है। इसी ध्यान को शुद्धोपयोग कहते हैं।** इस विषयक जयसेनाचार्य का कथन अत्यंत स्पष्ट है।

समयसार गाथा ३२० की तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने के बाद विशेष खुलासा करते हुये वे लिखते हैं –

''उस ही परिणमन को आगमभाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वभावरूप कहा जाता है। और उस ही परिणमन को **अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि नामों से कहा जाता है।**''

इससे यह अर्थ सहज ही फलित हो जाता है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति शुद्धोपयोग में ही होती है। आचार्यश्री जयसेन के समयसार के उपर्युक्त एक ही उद्धरण से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि – **चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही है।**

४७. प्रश्न : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए शुद्धात्मा के ध्यान को छोड़कर क्या अन्य कोई उपाय भी हो सकता है ? या एक मात्र उपाय शुद्धात्मा का ध्यान ही है ?

उत्तर : जिसप्रकार सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता का उपाय एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपाय भी एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दोनों भाव आत्माश्रित वीतरागस्वरूप ही हैं और इन दोनों का निमित्तरूप से बाधक कर्म भी एक मोहनीय–दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय ही है। इसलिए इनकी प्राप्ति का उपाय भी एक आत्माश्रितपना ही है। इसकारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय भी एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है; अन्य नहीं।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १७१ से १७४)

सामान्य से असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं ।।१२ ।।

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकार के हैं – क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण का घात करनेवाली चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियाँ, इसप्रकार इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेदरूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है।

उनमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकार के संदेह को भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता है।

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकार का होता है; किन्तु परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को जाता है, सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त करता है, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को भी पहुँच जाता है और वेदकसम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है।

(उपशम सम्यग्दृष्टि के उपर्युक्त कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति करनेवाला जीव नियम से मिथ्यात्व को ही प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है। उसे चार मार्ग है, जिसे ऊपर आचार्य श्री वीरसेन ने स्पष्ट किया है।)

तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिये वृद्ध पुरुष जिसप्रकार अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसीप्रकार वह भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिलग्राही होता है, अतः **कुहेतु और कुदृष्टान्त से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती है।**

पांच प्रकार के भावों में से किन–किन भावों के आश्रय से असंयत–सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की उत्पत्ति होती है ? इसप्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है और सम्यक्त्व का एकदेश घातरूप से वेदन करानेवाली सम्यक् प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

९. शंका – चौथे गुणस्थान से आगे असंयम का अभाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान – आगे के गुणस्थानों में असंयम का अभाव इसलिए नहीं कहा; क्योंकि आगे के गुणस्थानों में सर्व संयमासंयम और संयम ये विशेषण पाये जाते हैं।

इस सूत्र में जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदी के प्रवाह के समान आगे के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है। ❋

५

देशविरत गुणस्थान

पाँचवें गुणस्थान का नाम देशविरत है। बाह्य में बुद्धिपूर्वक अणुव्रत ग्रहण करने पर और अन्तरंग में सम्यग्दर्शनपूर्वक अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी के अनुदय होने से देशचारित्ररूप आंशिक वीतराग परिणाम प्रगट होने के कारण पंचम गुणस्थान होता है।

मात्र वीतरागभाव को पंचम गुणस्थान नहीं कहते, वीतरागता के अविनाभावी **बाह्य अणुव्रतादि पालन करने का राग भाव अर्थात् पुण्य परिणाम** भी इस गुणस्थान के स्वरूप में अंतर्गर्भित है।

४८. प्रश्न : कोई मनुष्य अणुव्रतादि को ग्रहण करे और उसे दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता व्यक्त न हो तो उसे पाँचवाँ गुणस्थान होगा या नहीं ?

उत्तर : नहीं होगा; क्योंकि मात्र अणुव्रतादि के ग्रहण करनेरूप राग अर्थात् पुण्य परिणाम को देशविरत गुणस्थान नहीं कहते; क्योंकि यह मान्यता व्यवहाराभासरूप है। दो कषाय चौकड़ी के अनुदय से वीतरागतारूप सच्चा धर्म व्यक्त हो गया हो और उसीसमय अणुव्रतादि के पालन करने का शुभ परिणाम भी चल रहा हो तो ही देशविरत गुणस्थान होता है; क्योंकि यहाँ व्यवहार-निश्चय का सुमेल है।

अणुव्रतादि या महाव्रत पाँचवें अथवा छठवें-सातवें गुणस्थान के उत्पादक कारण नहीं हैं; मात्र ज्ञापक कारण हैं। ज्ञापक कारण अर्थात् निमित्त। निमित्त को उत्पादक कारण मानना महान अज्ञान है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३० में देशविरत गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है -

पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ॥

प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के उदय काल में अर्थात् निमित्त से पूर्ण संयमभाव प्रगट नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शनपूर्वक, अणुव्रतादि सहित तथा दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त होनेवाली वीतराग दशा को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

उक्त परिभाषा में ''प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय काल में'' ऐसा वाक्य है तथा आगे कहा है कि ''पूर्ण संयमभाव प्रगट नहीं होने पर भी।'' इन कथनों का अर्थ यह हुआ कि प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयकाल में आंशिक वीतरागतारूप देशसंयम होता है। अणुव्रतादि श्रावक के शुभोपयोगरूप व्रतों के पालन का भाव प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय का कार्य है।

यह विचारणीय है कि अणुव्रतादि के पालन का भाव औदयिक भाव है; जो कर्म के उदय के निमित्त से होता है, वह वीतरागभावरूप निश्चयधर्म कैसे हो सकता है ? जो कर्मोदय के निमित्त से होगा, वह तो शुभ अथवा अशुभभावरूप विभाव ही होगा, वह वीतरागभावरूप धर्म नहीं हो सकता।

व्रतपालन के शुभ परिणाम व बाह्य क्रिया को तो उपचार से व्यवहार धर्म कहा है। इसे व्यवहार धर्म भी इसलिए कहा है कि इसके साथ में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक आंशिक वीतरागरूप निश्चय धर्म होता है।

चौथे गुणस्थान से ही आंशिक वीतरागतारूप ज्ञानधारा/धर्मधारा प्रारंभ हो गई है; चौथे में रागधारा अर्थात् कर्मधारा विशेष अधिक थी। अब देशविरत गुणस्थान में वीतरागधारा बढ़ गई है और रागधारा चौथे गुणस्थान की अपेक्षा हीन हो गयी है।

नाम अपेक्षा विचार -

विरताविरत, संयमासंयम, देशसंयम, देशचारित्र, इत्यादि अनेक नाम पाँचवें गुणस्थान के लिए हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती त्रस हिंसा से विरत है और स्थावर हिंसा से अविरत रहता है, अत: इसका विरताविरत नाम भी सार्थक है।

बारह प्रकार की अविरति में से आंशिकरूप से संयम का पालन करते हैं और शेष असंयम है; ऐसा जिसका जीवन हो, उसे संयमासंयमी कहते हैं।

जो चारित्र सकल चारित्र नहीं है, उसे देशचारित्र कहते हैं।

भेद – ग्यारह प्रतिमाओं की अपेक्षा देशविरत गुणस्थान के ग्यारह उपभेद हैं, जो इसप्रकार हैं – दर्शनप्रतिमा, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, दिवामैथुनत्याग या रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य , आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा के भी दो भेद हैं – (१) एक वस्त्रधारी श्रावक ऐलक और (२) दो वस्त्रधारी श्रावक क्षुल्लक – इन प्रतिमाओं का सामान्य स्वरूप नाटक समयसार के चौदहवें अधिकार के ५८ वें छन्द में शास्त्रकार के शब्दों में निम्नानुसार दिया है –

संजम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम।।

संयम का अंश प्रगट होना, परिणामों का भोगों से विरक्त होना और प्रतिज्ञा का उदय होना, इसको प्रतिमा कहते हैं।

उक्त दोहे में निम्न तीन विषय बताये गये हैं –

(१) संजम अर्थात् चारित्र का अंश प्रगट हुआ है। दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता ही यहाँ निश्चय चारित्र है।

(२) विशिष्ट आंशिक वीतरागता व्यक्त होते ही उसी समय स्पर्शनादि पांच इंद्रियों के स्पर्शादि विषय संबंधी भोगों से विरक्ति/अरुचि का भाव उत्पन्न हुआ।

(३) प्रतिज्ञा का उदय अर्थात् पंचेंद्रियों के भोगों से अरुचिरूप भाव के कारण भोग का त्याग करने के लिए बुद्धिपूर्वक व्रत लेने का जो शुभभाव हुआ, वही व्यवहार प्रतिमा है।

जैनधर्म भावप्रधान है। आत्मा मात्र भाव ही करता है; अतः भाव के अनुसार क्रिया में भी परिवर्तन हुए बिना नहीं रहता। (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २७९ देखिए) तथापि बाह्य क्रिया के अनुसार भाव में परिवर्तन होने का नियम नहीं है।

दोहे में व्यक्त तीन विशेषताओं में प्रथम दो अर्थात् संयम और भोगों से अरुचिरूप विरक्तता का भाव तो वीतरागतारूप अर्थात् निश्चयधर्मरूप है और प्रतिज्ञा ग्रहण करने का परिणाम शुभभावरूप औदयिकभाव है।

पहली प्रतिमा का नाम दर्शनप्रतिमा है और ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। इन दोनों प्रतिमाओं के बाह्य त्याग में अंतर तो बहुत है; तथापि दोनों का गुणस्थान पाँचवां ही है; क्योंकि दोनों में दो कषाय चौकड़ी का ही अनुदय है।

दर्शनप्रतिमाधारी आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि श्रावक मूलगुणों में तथा सप्त व्यसन के त्याग में अतिचार नहीं लगाता। देवपूजा आदि षट् कर्मों का पालन करता है। वह माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी तथा बाल-बच्चों के साथ घर में रहता है; नीति-न्यायपूर्वक व्यापारादि आरंभ कार्य करके धन कमाता है; हेय बुद्धिपूर्वक अरुचि से अनेक बार भोजन करता है; परिणामों में उत्साह नहीं होने पर भी भूमिका के अनुसार लौकिक व्यवहार में अनेक प्रकार के सुंदर कपड़े पहनता है; अपनी परिणामों की कमजोरी तथा पुण्योदयानुसार अल्प या अधिक परिग्रह भी रखता है।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक और ऐलक तो नियम से घर छोड़कर दिगम्बर मुनिराज के संघ के साथ वन-वसतिका आदि में निवास करते हैं। व्यापारादि अशुभोपयोगरूप आंरभ-परिग्रह के सर्वथा त्यागी हैं; धन रखने का भाव भी उनके मन में नहीं आता है; उद्दिष्ट रहित दिन में एक बार ही भिक्षावृत्ति से प्रासुक भोजन करते हैं; दूध, पानी आदि पेय भोजन के समय ही लेते हैं; अन्य समय में नहीं। क्षुल्लक दो – खंड वस्त्र तथा कौपीन और ऐलक मात्र एक कौपीन का ही उपयोग करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार पहली और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक के बाह्य जीवन में बहुत बड़ा अंतर होने पर भी दोनों के मात्र दो ही कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता है; अतः दोनों पंचम गुणस्थानवर्ती ही हैं।

४९. प्रश्न : पहली प्रतिमाधारी और क्षुल्लक-ऐलक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी – इन दोनों की व्यक्त वीतरागता/शुद्धि/धर्म एक समान ही है या कुछ भेद भी है ?

उत्तर : दो कषाय चौकड़ी के अनुदयरूप निमित्त से इनका गुणस्थान पाँचवां ही है; क्योंकि दो कषाय चौकड़ी के अभाव में होनेवाली व्यक्त वीतरागतारूप परिणति/शुद्धता में कुछ अन्तर नहीं; तथापि दोनों की व्यक्त वीतरागता में बहुत बड़ा अन्तर है; क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती साधकों के सूक्ष्म परिणामों की दृष्टि से असंख्यात भेद हैं। उन असंख्यात भेदों को ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त किया है। इन भेदों का मूल कारण त्रिकाली, सहज, निजशुद्धात्मा की साधनारूप पुरुषार्थ की हीनाधिकता ही है।

इस साधना के फलस्वरूप विशुद्धि का निमित्त पाकर प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन क्रोधादि चतुष्क कर्मों का उदय तीव्र, मंद, मंदतर, मंदतम होता है। इस उदय के निमित्त से शुद्धि में अंतर होता है। अत: दोनों की शुद्धि, सुख, संवर, निर्जरा आदि में भी यथायोग्य अन्तर रहता है।

५०. प्रश्न : क्षुल्लक और ऐलक में मात्र बाह्य कपड़े तथा कुछ बाह्य क्रियाओं के कारण ही भेद है अथवा वीतरागता में भी कुछ भेद है ?

उत्तर : कपड़ेरूप परिग्रह और आहार-क्रिया की अपेक्षा चरणानुयोग सापेक्ष जो अंतर है, वह तो स्पष्ट है ही। साथ ही व्यक्त वीतरागता में भी अंतर है। संवर, निर्जरा, सुख, शांति, शुद्धोपयोग, शुद्धपरिणति आदि अधिक मात्रा में व्यक्त होने के कारण/निमित्त से ही ऐलक के कपड़े आदि बाह्य परिग्रह में कमी आयी है।

क्षुल्लक के जीवन में ऐलक की अपेक्षा वीतरागता कम मात्रा में प्रगट हुई है। अत: उनके पास कपड़े अधिक हैं और भोजनादि की क्रिया भी भिन्न है।

ऐलक की निज शुद्धात्मा की साधना विशेष बलवती हो गयी है। इस निमित्त से प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय चतुष्क कर्मों का उदय, मंद, मंदतर, मंदतम हो जाता है। अत: ऐलक की आत्मिक शुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक है।

५१. प्रश्न : एक श्रावक ने आज सातवीं प्रतिमा का स्वीकार किया है और अन्य किसी श्रावक की अनेक वर्षों से सातवीं प्रतिमा की साधना चल रही है; दोनों में कुछ अंतर है या नहीं ?

उत्तर : दोनों साधकों में दो दृष्टि से अन्तर हो सकता है। सामान्य अपेक्षा से विचार किया जाय तो अनेक वर्षों से सातवीं प्रतिमा की साधना करनेवाले की वीतरागता विशेष अधिक होनी चाहिए; क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म का उदय मंद हो गया है और संज्वलन कषाय का भी सापेक्ष मंदोदय होता है।

यदि आज का सातवीं प्रतिमाधारक विशेष पुरुषार्थी है तो वह पुराने सातवीं प्रतिमाधारक से भी अपनी पर्याय की योग्यता से अधिक वीतरागता प्रगट कर सकता है। व्यक्त वीतरागता का हीनाधिक होना, यह उस साधक जीव के निजशुद्धात्मा के आश्रयरूप पुरुषार्थ पर निर्भर है।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

देशविरत नामक पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – इन तीनों सम्यक्त्वों में से कोई भी एक सम्यक्त्व रह सकता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक को संयमासंयम चारित्र होता है। यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्मों के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्य में उदय आनेयोग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सद्वस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म का उदय रहता है; अत: पंचम गुणस्थानवर्ती को चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। **(धवला पुस्तक १, पृष्ठ १७५, १७६)**

चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में अनंतानुबंधी के अनुदय से चारित्र में सम्यक्पना हो जाता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र – दोनों सम्यक् हो ही जाते हैं। देशविरत गुणस्थान में ऊपर चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम घटित करके दिखाया गया है; लेकिन देशसंयम चारित्र को क्षायोपशमिक चारित्र नहीं कहते हैं।

क्षायोपशमिक चारित्र ऐसा नाम तो सकल चारित्र को ही दिया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के दूसरे अध्याय के पांचवें सूत्र में क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद बताये गये हैं। उनमें क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयमरूप देशचारित्र भिन्न-भिन्न गिनाये गये हैं।

जब भावलिंगी मुनिराज के तीन कषाय चौकड़ी के अभाव के कारण वीतरागतारूप निश्चय चारित्र प्रगट होता है, तब देशघातिरूप संज्वलन कषाय एवं नौ नोकषायों का उदय रहता है; उस समय ही क्षायोपशमिक चारित्र घटित होता है।

जब जीव के परिणाम/भावों में देशघाति कर्म का उदय निमित्त रहता है, तब ही जीव के क्षायोपशमिक भाव प्रगट होता है; ऐसा नियम है। यह नियम क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों में भी लागू होता है।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायकर्म – ये तीनों सर्वघाति होने से इनमें क्षयोपशम भाव की परिभाषा पूर्णतया घटित नहीं होती। अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अनुदय एवं प्रत्याख्यानावरण का उदय होने से औपचारिक क्षायोपशमिक माना गया है। – यही कारण है कि देशविरत गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र नहीं कहा है।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्य काल – अंतर्मुहूर्त। मनुष्य या तिर्यंच जीव विरताविरत नामक गुणस्थानवर्ती हो जाता है और वह इस पंचम गुणस्थान में रहता है तो कम से कम अंतर्मुहूर्त काल ही रहता है; इससे कम काल में साधक इस गुणस्थान से अन्य गुणस्थानों में गमन नहीं करता है।

जैसे – छठवें-सातवें गुणस्थान से लेकर उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों का काल मरण की अपेक्षा एक, दो समयादि हो सकता है। सासादन का काल एक, दो समयादि हो सकता है; किन्तु पंचम गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त से कम हो ही नहीं सकता।

उत्कृष्ट काल – मनुष्य की अपेक्षा गर्भकाल सहित आठ वर्ष व एक अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष है तथा संमूर्च्छन तिर्यंच की अपेक्षा तीन अंतुर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष है। **(धवला पुस्तक ४, पृष्ठ ३६६)**

मध्यम काल – यथायोग्य अंतर्मुहूर्त जघन्य काल में एक, दो, तीन आदि समयों को बढ़ाते-बढ़ाते एक अंतर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत जितने-जितने भेद होते हैं, वे सर्व भेद देशविरति गुणस्थान के मध्यम काल के भेद समझना चाहिए।

५२. प्रश्न : संमूर्च्छन जीव तो असंज्ञी होते हैं और असंज्ञी जीवों को जब सम्यग्दर्शन ही नहीं होता, तो उनको पाँचवाँ गुणस्थान कैसे हो सकता है ?

उत्तर : संमूर्च्छन जीव असंज्ञी-संज्ञी दोनों होते हैं, यह कथन स्वयंभूरमण समुद्र में निवास करनेवाले संमूर्च्छन तिर्यंचों की मुख्यता से है।

धवला पुस्तक ४, पृष्ठ ३६६ पर इसका उल्लेख इसप्रकार है कि **मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों की सत्तावाला तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पंचेन्द्रिय संमूर्छन, पर्याप्त मंडुक, मच्छ, कच्छप आदि तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं।**

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. कोई पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज पहले जितना शुद्धात्मा का आश्रय ले रहे थे, उससे भी विशेष अधिक रीति से निज शुद्धात्मा का आश्रय लेकर अर्थात् शुद्धोपयोग द्वारा ही अप्रमत्तविरत गुणस्थान में गमन करने से भावलिंगी मुनिराज हो जाते हैं।

भावलिंगी पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक हो अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज हों, वे पाँचवें से –

२. चौथे गुणस्थान में अथवा

३. तीसरे गुणस्थान में अथवा औपशमिक सम्यक्त्व के साथ हों तो,

४. दूसरे गुणस्थान में अथवा परिणामों में विशेष अध:पतन होने के कारण सीधे,

५. मिथ्यात्व गुणस्थान में भी गमन कर सकते हैं।

आगमन – १. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज सीधे देशविरत में आ सकते हैं।

२. चौथे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा द्रव्यलिंगी श्रावक देशविरत गुणस्थान में आ सकते हैं।

३. प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा द्रव्यलिंगी श्रावक भी सीधे इस देशविरत गुणस्थान में आ सकते हैं।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. सर्वार्थसिद्धि आदि एक भवावतारी देवों के सम्यक्त्व, बालब्रह्मचर्यत्व, द्वादशांगज्ञानत्वादि की उपस्थिति में तथा उनके जनसामान्यवत् पंच पाप, स्थूल विषय-कषाय, असि-मसि आदि हिंसाजन्य षट्कर्म दिखाई नहीं देने पर भी अंतरंग में एक कषाय चौकड़ी के अभाव में उत्पन्न वीतरागता होने से उन्हें देशसंयम नहीं है; परंतु असंयम ही है और मनुष्य, तिर्यंचों के उपर्युक्त बाह्य प्रवृत्ति दिखाई देने पर भी अंतरंग में सम्यग्दर्शन सहित दो कषाय चौकड़ी के अनुदय में उत्पन्न वीतरागता विद्यमान होने से देशसंयम है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि बारह अंग के ज्ञाता सौधर्म इंद्र, लौकांतिक देव अथवा अहमिंद्र देव जिस आत्मानंद का अनुभव करके सुखी जीवन व्यतीती करते हैं; उनसे भी अति अल्पज्ञान के धारक, भूमिका के योग्य बाह्य हिंसादि पाप से आंशिक विरत रहनेवाले देशव्रती मनुष्य-तिर्यंच भी अधिक सुखी जीवन व्यतीत करते हैं।

(इस विषयक स्पष्टीकरण के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक का पृष्ठ क्रमांक २३२ देखें और डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल लिखित धर्म के दशलक्षण के 'उत्तम संयम धर्म' का अवलोकन करें।)

सुख का सीधा संबंध व्यक्त वीतरागता से है; बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार त्याग-ग्रहण से नहीं है।

२. स्वयम्भूरमण समुद्र में प्रतिकूल वातावरण में भी शुद्धात्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन सहित दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागतारूप देशचारित्र होता है। इसकारण असंख्यात तिर्यंच भी अतींद्रिय आनंद का अनुभव करते हुए पंचम गुणस्थानवर्ती हैं।

धर्म (वीतरागता) व्यक्त करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए अथवा धर्म की परिपूर्णता के लिए बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता अकिंचित्कर है, यह विषय यहाँ स्पष्ट समझ में आ जाता है।

बाह्य प्रतिकूल परिकर धर्म प्रगट करने के कार्य में कुछ बाधक होता हो तो नरक में किसी भी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए; लेकिन असंख्यात नारकी सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं। नव ग्रैवेयक पर्यंत के स्वर्ग के सब देवों को बाह्य अनुकूलता के कारण सम्यग्दर्शन होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं बन सकता; क्योंकि अनेक देव मिथ्यादृष्टि पाये जाते हैं।

उपसर्ग या परिषह में जकड़े हुए साधु की साधुता नष्ट होनी चाहिए और उनको उपसर्ग तथा परिषहजयी बनकर केवली होने का अवसर भी नहीं मिलना चाहिए; तथापि अनेक मुनिराज उपसर्ग तथा परिषहजयी होकर अंतरोन्मुख पुरुषार्थ करते हुए केवली होते हैं और अपनी अतीन्द्रिय अनन्तसुखरूप पर्याय को प्रति समय प्रगट कर ही रहे हैं।

धर्म की क्रिया तो आत्मा की अपनी स्वाधीन और स्वतंत्र क्रिया है, उसका बाह्य अन्य द्रव्यों की क्रिया से कुछ भी संबंध नहीं है।

३. यहाँ **संयम** शब्द आदि दीपक है; क्योंकि इस संयमासंमय गुणस्थान से लेकर उपरिम सभी गुणस्थानों में संयम नियम से पाया ही जाता है। संयम + असंयम इन दो शब्दों की संधि से संयमासंयम यह एक शब्द बना है।

४. **असंयम** शब्द को अंत दीपक समझना चाहिए; क्योंकि पंचम गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में असंयम होता ही नहीं। इसे समझने के लिए प्रथम चार गुणस्थानों के साथ असंयम शब्द जोड़कर समझना उपयोगी हो जाता है। **जैसे** – मिथ्यात्व असंयम, सासादनसम्यक्त्व असंयम, मिश्र असंयम आदि।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १७४ से १७६)

''सामान्य से संयतासंयत जीव हैं।।१३।।

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं, उन्हें संयतासंयत कहते हैं।

१०. शंका – जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है और जो असंयत होता है वह संयत नहीं हो सकता है; क्योंकि संयमभाव और असंयमभाव का परस्पर विरोध है। इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान – विरोध दो प्रकार का है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्था लक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्य के अनन्त गुणों में

परस्पर परिहार लक्षण विरोध इष्ट ही है; क्योंकि यदि गुणों का एक दूसरे का परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है। परन्तु इतने मात्र से गुणों में सहानवस्थालक्षण विरोध संभव नहीं है।

यदि नाना गुणों का एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकता है; क्योंकि वस्तु का सद्भाव अनेकान्त-निमित्तक ही होता है। जो अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं, वह वस्तु है। परन्तु अर्थक्रिया एकान्त पक्ष में नहीं बन सकती है; क्योंकि अर्थ क्रिया को यदि एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रिया की प्राप्ति होने से और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आने से एकान्त पक्ष में अर्थक्रिया के होने में विरोध आता है।

पूर्व के कथन से चैतन्य और अचैतन्य के साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है; क्योंकि चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं। जो सहभावी होते हैं, उन्हें गुण कहते हैं। परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं है; क्योंकि बंधरूप अवस्था के नहीं रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते हैं।

दूसरे विरुद्ध दो धर्मों की उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है; परन्तु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों को एक आत्मा में स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है; क्योंकि उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न है।

संयमभाव की उत्पत्ति कारण त्रसहिंसा से विरतिभाव है और असंयमभाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से अविरतिभाव है। इसलिये संयतासंयत नाम का पाँचवाँ गुणस्थान बन जाता है।

११. शंका – औदयिक आदि पाँच भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयम भाव पैदा होता है ?

समाधान – संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है; क्योंकि अप्रत्या-ख्यानावरण कषाय के वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्धकों के उदयभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने योग्य उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा **प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है।**

१२. शंका – संयमासंयमरूप देशचारित्रके आधार से सम्बन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं ?

समाधान – क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प से होता है; क्योंकि उनमें से किसी एक के बिना अप्रत्याख्यान चारित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है।

१३. शंका – सम्यग्दर्शन के बिना भी देशसंयमी देखने में आते हैं ?

समाधान – नहीं, क्योंकि जो जीव मोक्ष की आकांक्षा से रहित हैं और जिनकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यान संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कहा भी है –

''जो जीव जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होता है, उसको विरताविरत कहते हैं।'' ❁

प्रश्न : *हमारे पास थोड़ी सम्पत्ति है, तो दान कहाँ से करें ?*

उत्तर : *भाई ! विशेष सम्पत्ति हो तो ही दान हो; ऐसी कोई बात नहीं और तू उसे तेरे संसार कार्यों में खर्च करता है या नहीं ? तो धर्म कार्य में भी उल्लासपूर्वक थोड़ी सम्पत्ति में से तेरी शक्तिप्रमाण खर्च कर। दान के बिना गृहस्थपना निष्फल है। अरे ! मोक्ष का उद्यम करने का यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा। मोक्ष के लिए तो सभी राग छोड़ना पड़ेगा।* ***यदि दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे नहीं बनता तो तू मोक्ष का उद्यम किसप्रकार करेगा ?***

– श्रावकधर्मप्रकाश, पृष्ठ : ११४

६

प्रमत्तविरत गुणस्थान

छठवें गुणस्थान का नाम प्रमत्तविरत है; यह गुणस्थान भावलिंगी मुनिराज का है।

जैसे दूसरा सासादन गुणस्थान छठवें, पाँचवें या चौथे गुणस्थान से नीचे गिरते/उतरते समय ही प्रगट होता है, वैसे ही **छठवाँ प्रमत्तविरत गुणस्थान भी सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से नीचे उतरते समय ही होता है; यह सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक नियम है।**

जिसप्रकार कोई भी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से सासादन गुणस्थान में नहीं आता, उसीप्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर देशविरत तक के नीचे के इन पाँचों गुणस्थानों से कोई भी जीव चढ़कर इस प्रमत्तविरत छठवें गुणस्थान में कभी भी नहीं आता।

जैसे दूसरे गुणस्थान की प्राप्ति बड़प्पन की निशानी नहीं है; वैसे **प्रमत्तविरत गुणस्थान की प्राप्ति भी बड़प्पन की निशानी नहीं है; तथापि छठवें गुणस्थान में आना सप्तम गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज का अनिवार्य अंग है।** छठवें गुणस्थान में आने को काई भी मुनिराज टाल नहीं सकते।

दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा इस छठवें गुणस्थान की यह विशेषता है कि सासादन गुणस्थान से जीव नियम से नीचे के मिथ्यात्व गुणस्थान में गमन करता है; किन्तु **प्रमत्तसंयत गुणस्थान से नीचे के किसी भी गुणस्थान में गमन करने का त्रिकाल नियम नहीं है।**

छठवें गुणस्थान से नीचे किसी भी गुणस्थान में गमन किये बिना भी ये भावलिंगी मुनिराज छठवें से सातवें में और सातवें से छठवें में जाना-आना या आना-जाना सतत करते हुए सातिशय अप्रमत्त होकर श्रेणी मांडकर सिद्ध भगवान भी हो सकते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान के परिणामों की अर्थात् शुभोपयोगरूप बाह्य

महाव्रतादि की उपादेयता भावलिंगी मुनिजनों को बिल्कुल ही नहीं रहती; क्योंकि उनका मुख्य लक्ष्य तो सतत पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करने का ही रहता है।

छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनिराज अप्रमत्तसंयत से आते तो प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में; लेकिन जब-जब छठवें में आते हैं तो शीघ्र ही सातवें अप्रमत्तसंयत दशा में ही जाने का बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं; प्रमत्त दशा में जमे रहने का नहीं।

अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसे प्रमत्तसंयत (शुभोपयोग) की महिमा आ जाती है तो वह जीव नियम से मिथ्यात्वी हो जाता है। **श्रावक अथवा मुनिराज किसी भी साधक जीव को अपने त्रिकाली निज शुद्धात्मा की उपादेयता छूटकर किसी भी शुभाशुभ परिणाम या बाह्य मन-वचन-कायरूप क्रिया की महिमा/उपादेयता आ जाती है तो उनका मोक्षमार्ग नियम से छूट जाता है;** ऐसा निश्चितरूप से समझना चाहिए।

तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में शुद्ध परिणतिरूप वीतरागता सदा होने पर भी २८ मूलगुणों के पालन का शुभ परिणाम ही छठवाँ गुणस्थान है।

श्रावक के चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में और पाँचवें देशविरत गुणस्थान की अनेक प्रतिमाओं में शुभ-अशुभ और शुद्ध - इन तीनों उपयोगों में से अधिक काल तो पूर्व संस्कारवश अशुभोपयोग में या कदाचित् शुभोपयोग में जाता है; परंतु **श्रावक के ज्ञान-श्रद्धा में तो त्रिकाली निज शुद्धात्मा की ही उपादेयता रहती है तथा उसका ही आश्रय (ध्यान) करने का पुरुषार्थ रहता है।**

श्रावक मुख्यता से सामायिक के काल में स्वभाव के आश्रय से शुद्धोपयोग का ही प्रयास करते रहते हैं; परंतु सामायिक के काल के अतिरिक्त समय में कदाचित् अशुभोपयोग अथवा बुद्धिपूर्वक शुभोपयोग के बाह्य कार्य भी करते हुए दिखाई देते हैं। वैसे ही भावलिंगी मुनिराज के जीवन में शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग का काल हमेशा दो गुणा रहता है; तथापि उन्हें बहुमान/महिमा/उपादेयता शुभोपयोग की अणुमात्र भी नहीं रहती है।

५३. प्रश्न : जीव जिस परिणाम में रहता है, उसे उस परिणाम की महिमा आती है न ?

उत्तर : ऐसा बिल्कुल नहीं है। नारकी जीव तेतीस सागर काल पर्यंत सातवें नरक में रहता है और प्रत्येक समय में नरकगति के दु:खों से छूटना चाहता है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के राग और छह खंड के परिग्रह परिणामों के साथ जीवन को हेय बुद्धि से बिताते हैं; तथापि उन संयोगों और संयोगीभावों से छूटने की छटपटाहट मन में सतत ही बनी रहती है।

सम्यग्दृष्टि संयोग और संयोगी भावों में जल से भिन्न कमलवत् रहते हैं। मुक्तिगत सिद्ध जीव भी भूत काल में अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण कुसंस्कारों में रहते आये थे; परंतु उन्हें जब मिथ्यात्व आदि विकारों से रहित अपने सहज शुद्ध आत्मस्वभाव की उपादेयता उत्पन्न हुई तब ही वे सम्यग्दृष्टि हुये थे।

किसी भी मिथ्यादृष्टि को यदि सम्यग्दृष्टि होना है तो उसे भी अपने वर्तमानकाल में विद्यमान मिथ्यात्व भाव व उसके विषय को बुद्धिपूर्वक हेय करके **अपने व्यक्त ज्ञान-श्रद्धान में मात्र त्रिकाली सहज निज शुद्धात्मस्वभाव की ही महिमा की स्वीकृति व प्रतीति करना ही सम्यग्दृष्टि होने का एक मात्र उपाय है।** सम्यक्त्व की उत्पत्ति का अन्य कोई उपाय है ही नहीं।

इसी विषय को स्पष्ट समझाने के लिए ग्रंथाधिराज समयसार शास्त्र गाथा १८६ द्वारा आचार्यश्री कुंदकुंद ने अत्यंत सुबोध तथा मौलिक शब्दों में आसन्न भव्य जीवों को शुद्ध होने की सलाह दी है।

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ/अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ/अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

अस्तु ! प्रकरण तो प्रमत्तसंयत गुणस्थान का चल रहा है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३२ में प्रमत्तविरत गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है -

संजलण-णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो।।

जो (तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक) वीतराग परिणाम, सम्यक्त्व और सकल व्रतों से सहित हो; किंतु संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय के तीव्र उदय निमित्त, प्रमाद सहित हो, उसे प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं।

नाम अपेक्षा विचार -

प्रमत्तसंयत, विरत, संयम, सकलसंयम, सकल चारित्र इत्यादि अनेक नाम हैं। मोक्षसाधक मुनिजीवन में यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान नियम से होता ही है।

अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर्यंत यथायोग्य वीतराग परिणाम और राग परिणाम - दोनों/मिश्रभाव भूमिकानुसार होते हैं। यदि कोई ऐसा माने कि छठवें गुणस्थान में मात्र वीतराग परिणाम ही रहता है, राग नहीं अथवा महाव्रतादि २८ मूलगुणों के पालन का राग परिणाम ही रहता है, वीतराग परिणाम नहीं; तो उसकी दोनों मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यहाँ के वीतराग परिणाम में तीन कषाय चौकड़ी का अनुदय निमित्त है और व्यक्त औदयिक राग परिणाम के लिए संज्वलन कषाय चौकड़ी का तीव्र उदय निमित्त है।

५४. प्रश्न : प्रमत्तविरत गुणस्थान में संज्वलन कषाय चौकड़ी और नौ नोकषायों का उदय कहा, यह तो ठीक; परन्तु तीव्र उदय कहने का क्या कारण है ?

उत्तर : गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४५ में अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप समझाते हुए आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कषाय तथा नोकषाय का मंद उदय कहा है। अप्रमत्तसंयत ७ वें गुणस्थान में (शुद्धापयोगरूप ध्यानावस्था में) कषाय-नोकषायों का उदय मंद होता है, इस अपेक्षा ध्यानरहित शुभोपयोगरूप प्रमत्तसंयत छठवें गुणस्थान में तीव्र उदय कहा है; क्योंकि मुनिराज संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से ही सहज नीचे छठवें गुणस्थान में आते हैं; तथापि अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से शुद्ध परिणति सतत रहती ही है।

छठवें गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर्यंत कषाय और नोकषायों का उदय निम्नानुसार रहता है।

१. प्रमत्तसंयत में संज्वलन तथा नोकषायों का **तीव्र उदय** होता है।

२. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में संज्वलन कषाय चौकड़ी तथा नोकषायों का **मंद उदय** रहता है।

३. अपूर्वकरण गुणस्थान में संज्वलन तथा नोकषायों का **मंदतर उदय** रहता है।

४. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में संज्वलन तथा नोकषायों का **मंदतम उदय** होता है।

५. सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में **मात्र सूक्ष्म लोभ का ही उदय** रहता है, अन्य किसी कषाय-नोकषायों का उदय नहीं रहता; क्योंकि शेष सब कषायों की उदय-व्युच्छित्ति नौवें में ही हो जाती है।

वास्तव में तो साधकरूप मुनिजीवन में मात्र संज्वलन और नोकषायों के उदय का ही खेल है। अन्य अनंतानुबंधी आदि तीनों कषायों का तो भावलिंगी मुनिजीवन में उदय तथा तत् जन्य परिणामों का सतत अभाव ही रहता है। मुनिजीवन में कषाय तो मात्र कणिकारूप में ही विद्यमान रहती है। **(देखिये, प्रवचनसार गाथा ५, २४६ व २५४ की तत्त्वप्रदीपिका टीका)**

प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदह गुणस्थानों में कषाय के स्वरूप का सामान्य कथन निम्नप्रकार है –

१. मिथ्यात्व से मिश्र गुणस्थानपर्यंत के तीनों गुणस्थानों में कषाय **सुमेरूपर्वत** के समान है; क्योंकि अनंतानुबंधी आदि चारों कषायें अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान हैं। वे संसार को बढ़ाने का ही काम कर रही हैं।

२. अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में कषाय **महापर्वतरूप** रह जाती है; क्योंकि अनंतसंसार का कारण अनंतानुबंधी का अभाव हो गया है। अत: कषायों की शक्ति आंशिक क्षीण हो गई है।

३. देशविरत गुणस्थान में कषाय मात्र **पर्वतरूप** रह जाती है; क्योंकि उदय मात्र दो कषाय **(प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन)** चौकड़ी का ही है; और वे भी नाशोन्मुख हो गई हैं; तथापि जीव के पुरुषार्थ की कमी से उनका अस्तित्त्व है।

४. प्रमत्तसंयत से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर्यंत, पाँचों गुणस्थानों में सकलचारित्र के सद्भाव में उत्तरोत्तर **नष्ट होता हुआ संज्वलन कषाय तथा नोकषायों का उदय** यथाख्यातचारित्र में तारतम्यरूप से बाधक है।

५. उपशांत मोह गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत के चारों गुणस्थानों में और गुणस्थानातीत सिद्धावस्था में भी मात्र वीतराग भाव ही रहता है, कषायों का सर्वथा अभाव ही है।

प्रमत्तसंयत शब्द का स्पष्टीकरण – प्रमत्त + संयत = प्रमत्तसंयत। प्र = प्रकृष्ट; मत्त = मदयुक्त/असावधान; संयत = संयम।

संकल संयमरूप वीतरागता प्रगट हो जाने से संयत हो जाने पर भी **संज्वलन कषाय और नोकषायों के उदयवश विकथा आदि पंद्रह प्रमादों में हेयबुद्धि से प्रवृत्ति होने के कारण** स्वरूप में असावधान वृत्ति हो जाने से प्रमत्तसंयत है।

''कुशलेषु अनादर: प्रमाद:'' (सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ २८९) कुशल कार्यों-आत्मकल्याणकारी कार्यों में अनादर-असावधानी प्रमाद है।

विकथा – स्त्रीकथा, भोजनकथा, राज्यकथा और चोरकथा। **कषाय–** क्रोध, मान, माया, लोभ। **विषय –** स्पर्शनेंद्रियादिक के स्पर्श, रस, गंध आदि ५ विषय। निद्रा और स्नेह – ये पंद्रह प्रकार के प्रमाद हैं। इनके ही उत्तर भेद ३७५०० होते हैं।

५५. प्रश्न : क्या ये पंद्रह प्रमाद भावलिंगी मुनिराज के जीवन में भी होते हैं ?

उत्तर : हाँ, पंद्रह प्रमाद छठवें भावलिंगी मुनिराज के ही होते हैं। इसकारण छठवें गुणस्थान का नाम ही प्रमत्तविरत है। इसका विवरण –

चारों विकथाओं में प्रथम क्रम स्त्रीकथा का है। जब मुनिराज प्रथमानुयोग का शास्त्र लिखते हैं अथवा प्रसंगवश उपदेश में श्रोताओं को वैराग्य पोषक कहानी में किसी चक्रवर्ती की पटरानी के सौंदर्य का वर्णन करते हैं तो उन्हें **स्त्रीकथाजन्य प्रमाद हो जाता है।**

चरणानुयोग के उपदेश में यह पदार्थ भक्ष्य है, श्रावक को खानेयोग्य है, यह पदार्थ अभक्ष्य है; ऐसा भोजन सम्बन्धी कथन करने में, लिखने में अथवा विचारने में अथवा गुरु के समक्ष आहारचर्या के समय लगे हुए दोषों की बात करके प्रायश्चित्त आदि देने-लेने में **भोजनकथाजन्य प्रमाद घटित होता है।**

शास्त्ररचना का प्रारंभ करते समय अथवा शास्त्र के समाप्ति के समय किसी देश या राजा का उल्लेख करने का भाव आ जाय तो वह राष्ट्रकथा या **राजकथाजन्य प्रमाद हो जाता है।**

प्रथमानुयोग शास्त्र की रचना करते समय अथवा उपदेश देते समय चोर की कथा द्वारा तत्त्व समझाने के कारण **चोरकथा नामक प्रमाद होता है।**

आचार्य महाराज को अपने संघ के व्यवस्थित संचालन के समय किन्हीं मुनि शिष्यों के प्रति उनकी भूमिका के अनुसार संज्वलन कषायजन्य क्रोधादि उत्पन्न होते ही रहते हैं; उन्हें वे कैसे टाल सकते हैं ?

विहार करते समय या ध्यान के लिए बैठते अथवा खड़े रहते समय अनुकूल-प्रतिकूल मिट्टी-कंकड़ादि वस्तुओं के स्पर्श का ज्ञान होता ही रहता है। घ्राणेन्द्रिय से गंध का ज्ञान होने पर आहार ग्रहण करते समय खट्टा-मीठा आदि रस का भी ज्ञान होने से **निज शुद्धात्मा के साक्षात् अनुभव से च्युत हो जाने पर ही पंचेंद्रियजन्य प्रमाद हो जाते हैं।**

पिछली रयनि में कछु शयन का निद्रारूप प्रमाद मुनिजीवन में घटता ही है। निद्रा के समय उतने काल पर्यंत अर्थात् यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल तक शुद्धोपयोगरूप दशा नहीं रहती है; यही निद्रा प्रमाद है। स्नेह अर्थात् प्रणय, एक मुनिराज को अन्य साधर्मी मुनिराज के प्रति प्रेम/अपनापन होता है, उसे स्नेह नामक प्रमाद कहते हैं; ऐसे ही प्रमाद के अन्य-अन्य कार्य मुनिजीवन में कदाचित् परिस्थितिवश तथा हेयबुद्धि से होते रहते हैं।

गृहस्थ-जीवन के समान आलस्य में समय बिताना, सो जाना, गप्पें लगाना आदि अशुभोपयोग जनित प्रमाद तो मुनि के जीवन में संभव ही नहीं हैं, पर ऊपर कहे अनुसार प्रमाद के सभी प्रकार मुनि-जीवन में यथाकाल घटित हो सकते हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान में भावलिंगी महामुनिराज को औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से कोई एक सम्यक्त्व होता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

इस छठवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र होता है। वह इसप्रकार है – यहाँ प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उनके ही भविष्य में उदय में आने योग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति संज्वलन कषायकर्म और नौ नोकषायकर्म का तीव्र उदय रहता है। इसप्रकार चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम घटित होता है। **(धवला पुस्तक १, पृष्ठ १७७)**

निश्चयनय से तो चारित्र एक वीतरागभावस्वरूप ही होता है। उसे क्षायोपशमिक आदि नाम तो कर्म का निमित्त जानकर व्यवहारनय से ही दिये गये हैं। मुनिराज के जीवन में तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक व्यक्त वीतरागता तो निश्चय चारित्र है और उसी समय संज्वलन कषायोदय से अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का जो शुभराग होता है, उसे निश्चय वीतरागभाव का सहचारी जानकर व्यवहारनय से चारित्र कहते हैं। इसी का कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९ पर निम्नप्रकार किया है –

..... **सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव, उसी का नाम चारित्र है।** ..... जो चारित्रमोह के देशघाति स्पर्धकों के उदय से **महामंद प्रशस्त राग होता है, वह चारित्र का मल है। ..... कितने ही मंदकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं; परंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।**

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – एक समय है। कोई मुनिराज ध्यानमय अप्रमत्त गुणस्थान से छूटकर शुभोपयोगरूप छठवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं और वहाँ मात्र एक समय काल व्यतीत होते ही उनकी मनुष्यायु पूर्ण हो जाय तो मरण की अपेक्षा प्रमत्तसंयत गुणस्थान का जघन्यकाल मात्र एक समय घटित होता है।

उत्कृष्टकाल – प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज मात्र यथायोग्य एक (मध्यम) अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत ही यहाँ रहते हैं। यह गुणस्थान तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त शुद्ध परिणति सहित शुभोपयोगरूप

है।

मुनिराज शुद्धोपयोगरूप ध्यानावस्था की सतत रुचि रखते हैं और पुरुषार्थ भी वे वैसा ही करते हैं। अत: वे तुरंत अप्रमत्तविरत गुणस्थान में ही गमन करते हैं। यदि छठवें से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में गमन करेंगे तो ही प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज का सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल होता है।

मध्यमकाल – जैसे मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय सिद्ध होता है; उसीप्रकार दो, तीन, चार आदि समय, संख्यात समय, एक आवली आदिरूप भेद, जो यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त के भीतर होंगे, वे सर्व भेद मरण की अपेक्षा प्रमत्तसंयत गुणस्थान के मध्यमकाल के घटित हो सकते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल नियम से आधा होता है।

५६. प्रश्न : छठवें गुणस्थान का जब उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल समाप्त हो जाता है और मुनिराज अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में गमन करनेरूप पुरुषार्थ नहीं कर पाते, तो ऐसी स्थिति में वे मुनिराज छठवें गुणस्थान में कब तक रह सकते हैं ?

उत्तर : प्रमत्तसंयत का उत्कृष्टकाल मात्र एक (मध्यम) ही अंतर्मुहूर्त है, उससे अधिक काल किसी भी परिस्थिति में कोई भी मुनिराज प्रमत्तसंयत गुणस्थान में रह सकते ही नहीं। यदि छठवें के अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही तत्काल सातवें अप्रमत्तसंयत शुद्धोपयोगरूप दशा मे गमन नहीं होता है तो नीचे के पाँचवें आदि पाँचों गुणस्थानों में से किसी न किसी एक गुणस्थान में वे गमन करते ही हैं। क्षायिक सम्यक्त्व सहित प्रमत्तविरत गुणस्थान हो तो उनका पतन चौथे से नीचे नहीं होगा। **प्रमत्तसंयत गुणस्थान में मात्र एक अंतर्मुहूर्त ही रह सकते हैं।**

५७. प्रश्न : क्या अंतर्मुहूर्त के भी अनेक भेद हैं ?

उत्तर : हाँ, अंतर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं। असंख्यात समयों की एक आवली होती है। एक आवली काल में एक समय और जोड़ देने से जघन्य अंतर्मुहूर्त होता है। इसमें दो, तीन, चार आदि समय जोड़ते जाने

से अंतर्मुहूर्त के भेद होते जाते हैं। इसीतरह भेद करते-करते मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनिट में से दो समय कम तक भेद करते जाने से अंतर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हो जाते हैं – ये सर्व अंतर्मुहूर्त के ही भेद हैं।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज अपना यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत करने पर हमेशा अभ्यस्त हो जाने के कारण त्रिकाली निज सहजानंदमय शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा शुद्धोपयोग प्रगट करके ऊपर के एकमेव अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही गमन करते हैं; अन्य अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में सीधे गमन नहीं करते।

२. यदि छठवें से नीचे की ओर गमन करें तो अपनी पुरुषार्थ की हीनता से/अपने अपराध से और अन्य गुणस्थान के लिए यथायोग्य कर्मों के उदयादि से प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज सीधे देशविरत गुणस्थान में गमन कर सकते हैं। यहाँ आते ही वे भावलिंगी मुनिराज प्रत्याख्यानावरण कषायकर्म के उदय में पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि हो जाते हैं।

३. अंतर्मुहूर्त पहले जो तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय से भावलिंगी मुनिराज थे, वे ही पूर्व कुसंस्कारों की तीव्रतावश अपने परिणामों में हीनता आने से अगले अंतर्मुहूर्त में छठवें से सीधे अप्रत्याख्यानादि कषाय कर्म के उदय में अविरतसम्यग्दृष्टि हो जाते हैं अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी हो जाते हैं।

४. कोई छठवें गुणस्थानवर्ती सच्चे मुनिराज अपनी व्यक्त परिणतिरूप वीतरागता से च्युत होते हैं और उसीसमय श्रद्धा में सम्यक्मिथ्यापनारूप परिणमित होकर मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से छठवें से सीधे तीसरे मिश्र गुणस्थान में गमन करते हैं। इनको भी द्रव्यलिंगी कह सकते हैं।

५. कोई द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित प्रमत्तसंयत मुनिराज चारित्र एवं सम्यग्दर्शन से च्युत होकर अनंतानुबंधी कषाय परिणाम के व्यक्त होने

से तथा उसीसमय अनंतानुबंधी कषाय कर्म का उदय भी आ जाने से दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं और द्रव्यलिंगी मुनिराज बन जाते हैं। तीसरे एवं दूसरे गुणस्थान का काल अल्प होने से इनके साथ द्रव्यलिंगीरूप व्यवहार गौण रहता है।

६. कोई प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज छठवें से सीधे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय कर्म के उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में भी गमन करते हैं अर्थात् जो पहले समय में भावलिंगी मुनिराज थे, वे ही अपने पुरुषार्थ की विपरीतता के कारण विशिष्ट वीतरागतारूप धर्म से च्युत हो जाने से प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज हो जाते हैं।

देखो, परिणामों की विचित्रता ! बाह्य में द्रव्यलिंगरूप मुनिपना तो यथार्थरूप से वैसा का वैसा ही है; लेकिन अंदर में न मुनियोग्य धर्म (शुद्धता) रहा, न व्रती श्रावक के योग्य, न सम्यग्दृष्टि के योग्य परिणाम।

आगमन – इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आगमन मात्र अप्रमत्तसंयत से ही होता है। अपूर्वकरण आदि उपरिम किसी भी गुणस्थानों से सीधे छठवें गुणस्थान मेंआगमन नहीं होता।

नीचे के पाँचों गुणस्थानों में से भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आगमन नहीं होता।

सातवें शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से ही शुभोपयोगरूप छठवें गुणस्थान में आगमन का नियम है।

५८. प्रश्न : छठवें गुणस्थान को शुभोपयोगरूप ही क्यों कहा ? और नीचे की ओर पतन होते समय प्राप्त होने वाला गुणस्थान भी क्यों कहा ?

उत्तर : छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी का अनुदय होने से शुद्ध परिणतिरूप वीतरागता तो है; परन्तु यहाँ पर मुनिराज के संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप भाव है, अत: उसे शुभोपयोगरूप कहा है। मुनिजीवन में दो ही उपयोग मुख्यता से होते हैं – (१) शुद्धोपयोग और (२) शुभोपयोग।

निर्विकल्प ध्यानरूप अवस्था, जो अप्रमत्तदशा है; उसे शुद्धोपयोग

कहते हैं। ध्यान से च्युत होने पर सविकल्प अवस्था शुभोपयोगरूप है; यही प्रमत्तसंयत दशा है। ध्यान से च्युत होना कहो अथवा नीचे की ओर पतन कहो – दोनों का अर्थ एक ही है। सातवें की अपेक्षा छठवाँ गुणस्थान निम्नस्तर का है; अत: वह नीचे की ओर पतन होते समय प्राप्त होता है।

नीचे की ओर पतन का अर्थ प्रमत्तसंयत अवस्था मुनि अवस्था ही नहीं है; अथवा वह भ्रष्ट मुनि अवस्था है – ऐसा भी नहीं है। मुनिजीवन ही ऐसा होता है कि जिसमें ध्यान रहित अवस्था होना उसका व्यवहारस्वरूप कहलाता है, उसे शुभोपयोग भी कहते हैं और यह शुभोपयोग, शुद्धोपयोग से भिन्न व निम्नकोटि का है।

५९. प्रश्न : क्या छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान भी होता है ?

उत्तर : हाँ, छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान होता है; परन्तु वह मुख्यरूप से शुभभावरूप होता है और कदाचित् अशुभोपयोगरूप भी हो सकता है; तथापि वह भी हेयबुद्धि से होता है।

६०. प्रश्न : चौथे अविरतसम्यक्त्व और पाँचवें देशविरत गुणस्थानों में स्वानुभूतिरूप शुद्धोपयोग होता है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानों से भी ऊपर के छठवें गुणस्थान में मात्र शुभोपयोग ही होता है, शुद्धोपयोग नहीं; यह बात कैसी ?

उत्तर : चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शनरूप धर्म की उत्पत्ति होती है, वह करणलब्धि के बिना नहीं होती। अत: चौथे गुणस्थान की उत्पत्ति के पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में ही जीव आत्मध्यान का बुद्धिपूर्वक प्रयास करता है और भेदविज्ञान से यथार्थ तत्त्वज्ञान की भावभासनापूर्वक शुद्धोपयोग के काल में ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों उपयोग होते हैं। तथा जिसप्रकार चतुर्थ गुणस्थान से शुद्धोपयोग के साथ पंचम गुणस्थान में आगमन होता है। वैसे ही पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज शुद्धोपयोग से ही सातवें गुणस्थान में गमन करते हैं।

चौथे या पाँचवें गुणस्थानवर्ती साधक जीव उपरिम गुणस्थानों में गमन न करते हुए भी यथासमय शुद्धोपयोग की प्राप्ति करते रहते हैं; क्योंकि ये दोनों गुणस्थानवर्ती जीव मोक्षमार्गी हैं। शुद्धोपयोग के अभाव में भी उनको शुद्धपरिणति सतत बनी रहती है और शुद्धपरिणति को टिकाये रखने के लिए तथा उसे बढ़ाने के लिए एवं आनंद का भोग करने के लिए भी शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ करते रहते हैं।

यदि यथायोग्य काल के पश्चात् भी शुद्धोपयोग नहीं होगा तो उनके चौथा या पाँचवाँ गुणस्थान भी नहीं रहेगा; उन्हें मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति हो जावेगी; यह वस्तुस्वरूप है। इसलिए चौथे-पाँचवें गुणस्थान में जीव के पुरुषार्थ के अनुसार कदाचित् अशुभोपयोपयोग, शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग होता है।

छठवें गुणस्थान का स्वरूप ही अलग ढंग का है। इस गुणस्थान का स्वरूप ही बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी भावलिंगी मुनिराज यदि शुद्धोपयोग करते हैं तो उनका गुणस्थान सातवाँ अप्रमत्तसंयत हो जाता है। शुद्धोपयोग से छूटते हैं/गिरते हैं, तो वे ही अप्रमत्त मुनिराज प्रमत्तसंयत अर्थात् शुभोपयोगी हो जाते हैं।

किसी भी जीव को मोक्षमार्गी बने रहने के लिए उसे वीतरागता होना आवश्यक है। वह वीतरागता दो कारणों से जीव के पास या साथ रहती है – एक तो शुद्धोपयोग से और दूसरे शुद्धपरिणति से।

छठवें गुणस्थान में वीतरागतारूप मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धपरिणति शुभोपयोग के साथ-साथ सतत रहती अवश्य है; पर छठवाँ गुणस्थान भावलिंगी मुनिराज का होने पर भी उसका स्वरूप ही व्यक्त शुभोपयोगरूप है; इसलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थान में शुभोपयोग ही होता है, शुद्धोपयोग नहीं।

सातवें गुणस्थान में और उसके आगे के भी सभी गुणस्थानों में मात्र शुद्धोपयोग ही रहता है; अन्य कोई उपयोग होता ही नहीं। छठवें से मुनिजीवन है; इससे यह स्वयमेव निर्णय हो जाता है कि मुनिजीवन में मात्र दो ही उपयोग हैं – एक शुद्धोपयोग और दूसरा शुभोपयोग।

हम द्रव्यानुयोग की अपेक्षा गुणस्थानों का विभाजन निम्नप्रकार कर सकते हैं – (१) मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे मिश्र गुणस्थानपर्यंत नियम से शुभ और अशुभोपयोग ही होते हैं। (२) चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानों में शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग – तीन उपयोग रह सकते हैं। (३) छठवें गुणस्थान में मात्र शुभोपयोग। और सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सर्व गुणस्थानों में मात्र शुद्धोपयोग ही रहता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. प्रमत्तसंयत यह छठवाँ गुणस्थान शुद्धपरिणति सहित शुभोपयोगरूप है। यद्यपि यह दशा मुनिजीवन में अवश्यंभावी है, तथापि बंधकारक है। नाटक समयसार (मोक्षद्वार छन्द ४०) में इसे जगपंथ कहा है, जो निम्नप्रकार से है –

ता कारण जगपंथ इत, उत शिवमारग जोर।
परमादी जग कौं धुकै, अपरमादि शिव ओर।।

अर्थ – इसलिए प्रमाद संसार का कारण है और अनुभव मोक्ष का कारण है। प्रमादी जीव संसार की ओर देखते हैं और अप्रमादी जीव मोक्ष की तरफ देखते हैं।

मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व अनिवार्य गुणस्थानों के संबंध में यहाँ थोड़ा विचार करते हैं –

१. अनेक जीव दूसरे सासादन गुणस्थान को प्राप्त किए बिना भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व के साथ चौथे आदि ऊपर के गुणस्थानों से पतित होता है, वही दूसरे गुणस्थान में आता है। **ऐसे उपरिम गुणस्थानों से सासादन में पतित न होनेवाले अनेक जीव मोक्ष जा सकते हैं। अतः दूसरा गुणस्थान अनिवार्य नहीं है।**

२. तीसरा गुणस्थान भी अनिवार्य नहीं है; **इस तीसरे गुणस्थान में प्रवेश किए बिना भी मुक्ति संभव है;** क्योंकि यदि जीव पहले गुणस्थान से ही चौथे में आता है अथवा पाँचवें, सातवें में आता है तो छठवें-सातवें में आत्मानंद का रसपान करते-करते नीचे गमन किए बिना ही

मुक्ति प्राप्त कर सकता है। **अत: तीसरा गुणस्थान भी अनिवार्य नहीं है।**

३. चौथे अविरतसम्यक्त्वगुणस्थान की प्राप्ति के बिना भी जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है; क्योंकि अनादि मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे सातवें अप्रमत्त में आकर छठवें-सातवें में झूलते हुए आगे श्रेणी मांडकर मुक्त हो सकता है। **अत: मुक्ति के पूर्व अविरतसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान की अनिवार्यता नहीं है।**

४. यदि द्रव्यलिंगी मुनिराज अनादि मिथ्यात्व गुणस्थान से ही सातवें अप्रमत्त संयत में जाते हैं और छठवें-सातवें में हजारों बार झूलते हुए श्रेणी मांडकर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं **तो उन्हें पाँचवाँ देशविरत गुणस्थान भी अनिवार्य नहीं है।**

५. यदि मुनिराज उपशमश्रेणी पर आरोहण करते हैं तो ही उपशांत मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। जो मुनिराज उपशमश्रेणी पर आरोहण न करते हुए **मात्र क्षपकश्रेणी पर ही आरोहण करते हैं तो उन्हें उपशांतमोह गुणस्थान की प्राप्ति होती ही नहीं; इसलिए ग्यारहवाँ गुणस्थान भी अनिवार्य नहीं है और उपशमश्रेणी के प्रथम तीन गुणस्थान भी अनिवार्य नहीं हैं।**

इस तरह संक्षेप में दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, ग्यारहवाँ - इन पाँचों गुणस्थानों के बिना तो कदाचित् जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है; लेकिन छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के बिना तो कोई जीव मुक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकता अर्थात् मिथ्यात्व, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, क्षपकश्रेणी के चारों गुणस्थान, सयोगकेवली और अयोगकेवली इन नव गुणस्थानों के बिना जीव मुक्त नहीं हो सकता।

६१. प्रश्न : इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान को बंधनकारक, शुभोपयोगरूप, जगपंथ और कथंचित् आकुलता उत्पादक जानते हुए भी भावलिंगी मुनिराज इस गुणस्थान में क्यों आते हैं ?

उत्तर : १. मोक्षप्राप्ति का क्रम किसी भी जीव के इच्छानुसार नहीं

होता, जैसा वस्तुस्वरूप है, उसके अनुसार ही होता है। वह वस्तुस्वरूप तथा क्रम अनंत सर्वज्ञ भगवंतों ने जाना है और उसे दिव्यध्वनि में कहा है।

मुनिजीवन में सबसे पहले शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तविरत गुणस्थान की प्राप्ति होती है। तदनंतर सातवें गुणस्थान से ही सीधे क्षपकश्रेणी आरोहण करके मुक्त होने की व्यवस्था नहीं है। शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तविरत दशा में यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत होते ही पर्यायगत योग्यता के कारण तथा यथायोग्य कर्मोदय के निमित्त से शुभोपयोगरूप प्रमत्तविरत गुणस्थान में आना अनिवार्य रहता है।

मुनिअवस्था में मात्र एक अंतर्मुहूर्त रहकर ही मुक्ति प्राप्त करनेवाले भरत आदि को भी छठवें गुणस्थान में आना अनिवार्य ही था। अंतर्मुहूर्त में मुक्ति पानेवाले मुनिराज भी श्रेणी-आरोहण के पहले तैयारी की दशा में तो एक अंतर्मुहूर्त में हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं अर्थात् उन्हें भी छठवें गुणस्थान में आना पड़ता है, वे आना नहीं चाहते। मोक्ष-प्राप्ति के पहले का वस्तुगत क्रम ही ऐसा है। आगम प्रमाण से वस्तु का स्वरूप समझने से ज्ञान में यथार्थता एवं निर्मलता की प्राप्ति जरूर होती है।

जगपंथ का अर्थ संसार का मार्ग है अर्थात् छठवें गुणस्थान का शुभोपयोगरूप भाव अर्थात् शुभपरिणाम बंधरूप होने से संसारमार्ग है। **जैसे अग्नि में शीतलता की खोज व्यर्थ है, वैसे शुभ में वीतरागतारूप मोक्षमार्ग ढूँढना व्यर्थ है।**

२. आचार्यकृत सभी शास्त्र-लेखन, उपदेश, दीक्षा-शिक्षा आदि प्रशस्त व्यवहार कार्य इस छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान में ही होते हैं। मुनिजीवन के छठवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज को संज्वलन कषाय तथा हास्यादि नौ नोकषायों के तीव्र उदय में नियम से हेय बुद्धिपूर्वक शुभ परिणाम होते ही हैं; क्योंकि मुनिजीवन में (स्थूलरूप से) अशुभोपयोग के लिए अवकाश ही नहीं है। अत: शुभ परिणाम में बुद्धिपूर्वक होनेवाले कार्य भी मोक्षमार्ग के अनुकूल ही होना चाहिए।

वास्तव में तो गृहस्थ-जीवन में जो कुछ शुभ परिणाम या पुण्यरूप कार्य होते हैं, वे सब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायों के मंद उदय में होते हैं और मुनिजीवन में शुभ परिणाम अथवा प्रशस्त/

पुण्य कार्य नियम से संज्वलन कषाय और नौ नोकषायों के यथायोग्य तीव्र उदय में ही होते हैं।

इस कारण श्रावक जीवन से भी मुनिजीवन कितना भिन्न प्रकार का है, इसका स्वयमेव ज्ञान हो जाता है। जो परिणाम मुनीश्वरों के लिए हेय हैं, उसी परिणाम द्वारा ही श्रावकों का महान उपकार होता है।

हमें थोड़ा विचार करना चाहिए कि जब **मुनिराज के हेयरूप (शुभ) परिणाम से भी श्रावक का सहज कल्याण होता है तो वास्तविक वीतरागतारूप धर्म से श्रावक का अविनाशी कल्याण क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा।**

३. आहारक आदि ऋद्धियों का व्यवहार धर्म-प्रभावना हेतु कदाचित् उपयोग इस सविकल्प अवस्थारूप छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है; क्योंकि अप्रमत्तादि ऊपर के गुणस्थान निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप ही है। **ऋद्धि शब्द का अर्थ है – पुण्योदय से अर्थात् विशुद्धि से प्राप्त कुछ विशिष्ट विकसित शक्ति की उपलब्धि।**

जिन मुनिराजों को ऋद्धि की प्राप्ति हो गयी है, उनको उन ऋद्धियों का उपयोग करना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि मुनिराज ऋद्धियों से अत्यंत निरपेक्ष होते हैं।

४. छठवें गुणस्थान के नाम में प्रयुक्त **'प्रमत्त'** शब्द अंतदीपक है; क्योंकि मिथ्यात्व से लेकर प्रमत्तसंयत पर्यंत सर्व जीव नियम से प्रमाद की बहुलतावाले ही होते हैं। इन सभी के साथ 'प्रमत्त' शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। **जैसे –** प्रमत्त मिथ्यात्व, प्रमत्त सासादनसम्यक्त्व, प्रमत्त मिश्र, प्रमत्त अविरतसम्यक्त्व, प्रमत्त देशविरत; पर भाषाविज्ञान के नियमानुसार संक्षिप्तीकरण के लिए मात्र छठवें गुणस्थान में प्रमत्त शब्द का प्रयोग हुआ है।

६२. प्रश्न : छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए प्रचुर स्वसंवेदन का आनंद की गटागट घूंट पीनेवाले सर्व भावलिंगी मुनिराज की व्यक्त

वीतरागता (निश्चय धर्म) समान ही होती है या उसमें भी कुछ भेद रहता है ?

उत्तर : अट्ठाईस मूलगुणों के पालनरूप बाह्य व्यवहारधर्म तो सर्व मुनिराजों **(आचार्य, उपाध्याय, साधु)** का समान ही होता है। अंतरंग में निश्चयधर्मरूप तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय से व्यक्त वीतरागता भी सामान्य अपेक्षा से समान ही होती है। **(विशेष स्पष्टीकरण पंचाध्यायी अध्याय दूसरा श्लोक ६३९ से ६४३ देखें।)**

सूक्ष्म परिणामों की अपेक्षा से विचार किया जाय तो वीतरागता हीन-अधिक भी हो सकती है; क्योंकि इसका निमित्त कारण संज्वलन कषाय चौकड़ी तथा नोकषाय कर्मों का तीव्र अथवा मंद उदय है। इस कारण अनेक वर्षों से दीक्षित मुनिराज की वीतरागता विशेष अधिक हो सकती है। इस विवक्षा की मुख्यता से अनेक वर्षों से दीक्षित मुनिराजों को चरणानुयोग बड़ा मानता है। यह कथन भी सापेक्ष ही समझना चाहिए; क्योंकि अल्पकाल के दीक्षित मुनिराज भी निजशुद्धात्मा के ध्यानरूप विशेष पुरुषार्थ से पुराने मुनिराज से भी अधिक वीतरागता को प्रगट कर सकते हैं।

यह सब कार्य परिणामों की विचित्रता और पुरुषार्थ की विशेषता से होते हैं। यही कारण है कि **तीर्थंकर बननेवाले आदिनाथ मुनिराज एक हजार वर्ष मुनि दशा में साधना करने के बाद अरहंत भगवान हो सके। बाहुबली मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए एक ही वर्ष पर्याप्त रहा। श्री मल्लिनाथ मुनिराज के लिए अरहंत अवस्था की प्राप्ति मात्र छह दिन की साधना से ही हो गई थी। और भरत मुनिराज ने तो केवल अंतर्मुहूर्त की साधना से ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया था।**

(१) आचार्य, उपाध्याय तथा साधु – सामान्य दृष्टि से इन तीनों परमेष्ठियों की वीतरागता समान होने पर भी गणधरादि पद पर आसीन साधु परमेष्ठी की शुद्धि विशिष्ट होती है। **(२)** जिन मुनिराजों को परिहारविशुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं उनकी तथा अनंतानुबंधी कषाय

की विसंयोजना करनेवाले साधुओं की शुद्धि/वीतरागता विशेष होती है; फिर भी होती तो भूमिका के अंदर ही।

६३. प्रश्न : अट्ठाईस मूलगुणों में से यदि मुनिराजों द्वारा एक-दो मूलगुणों का पालन न हो सके तो उन्हें मुनि माना जाय या नहीं ?

उत्तर : अनंत तीर्थंकरों के परम सत्य उपदेश को आचार्यों ने शास्त्रों में लिपिबद्ध किया है। ऐसे परमश्रद्धेय एवं आराध्य शास्त्रों की आज्ञा मानना हमारा कर्तव्य है; जिनसे इहलोक तथा परलोक में जीव का आत्मकल्याण होता है। उन शास्त्रों की तो आज्ञा है कि २८ मूलगुणों का समग्र रीति से पालन करना ही सच्चे साधु का स्वरूप है। कदाचित् पूर्व संस्कारवश मूलगुणों के पालन में कुछ अतिचार भी लग सकते हैं।

यदि एक-दो अथवा तीन-चार मूलगुणों का पालन न हो तो भी सच्चे गुरुपने की मान्यता स्वीकृत होने लगे, तो फिर ५-६ या ७-८ मूलगुणों के अभाव में भी गुरुपने की मान्यता रूढ हो सकती है या मात्र ४-५ मूलगुणों के पालन से भी गुरुपना मानने में आपत्ती नहीं रहेगी; कोई निश्चित नियम ही नहीं रह पायेगा।

इसलिए अट्ठाईस मूलगुणों का पालन अखंड करना ही सच्चा गुरुपना है। **'मूलगुण' यह शब्द ही हमें बताता है कि गुरुपने के मूलगुण हैं अर्थात् इनके बिना गुरुपना संभव ही नहीं है, जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता। इस तरह अट्ठाईस मूलगुणों की अनिवार्यता आगम, तर्क तथा युक्ति से भी यथार्थ सिद्ध होती है।**

१. जो कोई अट्ठाईस मूलगुणों का आगमानुसार निर्दोष पालन करते हैं, वे सच्चे गुरु हैं, ऐसी परिभाषा चरणानुयोग के शास्त्रों की मुख्यता से करना उचित ही है। सच्चे मुनिपने के विषय को अन्य अपेक्षाओं से भी हमें समझना आवश्यक है। अत: कुछ स्पष्टीकरण करते हैं।

२. अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय के काल में ध्यान रहित तथा शुद्ध परिणति सहित अवस्था के समय मुनिराज

जिसप्रकार के बाह्य आचरण में प्रवृत्त होते हैं; उस आचरण को अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं।

३. तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय के काल में शुद्धोपयोग से छूटने पर शुभोपयोग की भूमिका में मुनिराज की जीवनचर्या को अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं।

४. संज्वलन कषाय चौकड़ी के यथायोग्य तीव्र उदय के निमित्त से मुनिराज जिसप्रकार के आचरण में प्रवृत्त होते हैं; उसे अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं।

६४. प्रश्न : क्या पुलाक आदि मुनि सच्चे मुनि नहीं होते ? पुलाक मुनि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : ''जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हों और किसी क्षेत्र या काल में किसी मूलगुण में अतिचार लगावें तथा जिनके अल्प विशुद्धता हो, उन्हें पुलाक मुनि कहते हैं।'' जैसे गर्मी की ऋतु में जंघा तक पैर धो लेना आदि।

''पुलाक मुनि वैसे तो भावलिंगी सम्यग्दृष्टि मुनिराज ही होते हैं; परन्तु व्रतों के पालन में क्षणिक अल्पदोष हो जाते हैं; फिर भी यथाजातरूप ही हैं। **(उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक भावलिंगपना होता है।)** उन्हें सामायिक और छेदोपस्थापना दो संयम होते हैं।'' **(अधिक स्पष्टिकरण के लिए सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवृत्ति, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रंथों को देखें।)**

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १७६ से १७८)

सामान्य से प्रमत्तसंयत जीव हैं।।१४।।

प्रकर्ष से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरह से विरत या संयम को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। **जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं।**

१४. शंका – यदि छठवें गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो

सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं; क्योंकि संयमभाव प्रमाद के परिहार स्वरूप होता है।

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन **पाँच पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं,** जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित हैं। वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है; क्योंकि **संयम में प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति होती है।**

१५. शंका – छठवें गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयम का नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय?

समाधान – छठवें गुणस्थान में प्रमाद के रहते हुए संयम का सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि **यहाँ पर मल को उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे छठवें गुणस्थान में होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयम का नाश भी नहीं कर सकता है; क्योंकि सकलसंयम का उत्कटरूप से प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता।**

१६. शंका – पांच भावों में से किस भाव का आश्रय लेकर यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

समाधान – संयम की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

१७. शंका – प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किसप्रकार है ?

समाधान – क्योंकि वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय होने से और आगामी काल में उदय में आनेवाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आनेरूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये क्षायोपशमिक है।

१८. शंका – संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नाम से क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

१९. शंका – तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है?

समाधान – प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से (और सदवस्थारूप उपशम से) उत्पन्न हुए **संयम में मल के उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है।**

संयम के कारणभूत सम्यग्दर्शन की अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावनिमित्तक है।

२०. शंका – यहाँ पर सम्यग्दर्शन पद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शन के बिना भी संयम की उपलब्धि होती है ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

२१. शंका – यहाँ पर द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय?

समाधान – नहीं; क्योंकि **भले प्रकार जानकार और श्रद्धान कर जो यमसहित है उसे संयत कहते हैं।** संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह ... ा ग्रहण नहीं किया है।

दिगम्बर मुनिराज के २८ मूलगुण

५ महाव्रत	:	*अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत।*
५ समिति	:	*ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना (उत्सर्ग समिति)।*
५ इन्द्रियविजय	:	*स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय विजय।*
६ आवश्यक	:	*समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, आलोचना (अथवा स्वाध्याय), प्रत्याख्यान।*
७ इतर गुण	:	*केशलुंचन, वस्त्रत्याग, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधोवन, खड़े-खड़े भोजन, दिन में एक बार अल्प आहार।*

७

अप्रमत्तविरत गुणस्थान

सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्तसंयत है; यह गुणस्थान ध्यानस्थ मुनिराज का है। विचार किया जाय तो **वास्तविक मुनिजीवन का प्रथम गुणस्थान तो अप्रमत्तसंयत ही है; क्योंकि प्रमत्तसंयत गुणस्थान तो अप्रमत्तसंयत से नीचे गिरने के बाद प्राप्त होता है।**

जब कोई भी साधक भावलिंगी मुनिराज हो जाता है, तब मिथ्यात्व, अविरतसम्यक्त्व अथवा देशविरत गुणस्थान से सीधे इस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आकर ही होता है। इस विवक्षा की मुख्यता से अथवा प्रवचनसार ग्रंथ की चरणानुयोग चूलिका की दृष्टि से मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अध्याय में साधु के स्वरूप का विवेचन करते समय पृष्ठ तीन पर आया है - **जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके.... ।**

यहाँ शुद्धोपयोग की प्रमुखता से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को ही समझना चाहिए। श्रेणी आरोहण की तैयारी अर्थात् अपूर्व और अलौकिक पुरुषार्थ सातवें की सातिशय अप्रमत्त दशा में ही होता है।

आचार्यश्री अमृतचंद्र और आचार्यश्री जयसेन प्रवचनसार गाथा क्रमांक ७९ की टीका में इस शुद्धोपयोग को ही अथवा अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को परम-उपेक्षा लक्षण परमसामायिक कहते हैं। मुनिराज की प्रतिज्ञा और आन्तरिक भावना तो शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही रहने की होती है; परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरीवश उन्हें प्रमत्तविरत गुणस्थान में आना पड़ता है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४५ में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की कर्मोदय सापेक्ष परिभाषा निम्नानुसार दी है -

संजलणणोकसायाणुदओ, मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।।

संज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायों के मंद उदय के समय में अर्थात् निमित्त से प्रमादरहित होनेवाली वीतरागदशा को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते है।

यहाँ ध्यानावस्था है, शुद्धोपयोग है; इसलिए व्यवहार सकलसंयम पालने का शुभविकल्प नहीं हो सकता। मुनिराज बुद्धिपूर्वक तो निज शुद्धात्मा में मग्न हैं। इस कारण ध्यानजन्य आत्मानंद का रसपान करते रहते हैं।

अप्रमत्तविरत गुणस्थान में संज्वलन देशघाति कषाय कर्म और हास्यादि नौ नोकषाय कर्मों का मंद उदय है; जो मुनिराज को प्रमादभाव उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; परन्तु आत्मा में अबुद्धिपूर्वक विभाव परिणाम का अस्तित्त्व बना रहता है। इन परिणामों के निमित्त से हीन स्थिति-अनुभाग वाला नया कर्मबंध भी नियम से होता ही है।

संज्वलनजन्य मंद विभाव परिणाम और तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक उत्पन्न वीतराग परिणाम - इन दोनों की मिश्र दशा को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

वीतरागता व राग-द्वेष दोनों चारित्र गुण की पर्यायें हैं। मोह व योग के निमित्त से आत्मा के श्रद्धा व चारित्र गुणों में होनेवाली तारतम्यरूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। **मात्र वीतराग परिणामों को अप्रमत्त गुणस्थान नहीं कहा।** सप्तम गुणस्थान में स्थित मुनिराज मात्र वीतराग परिणामों के धारक नहीं हैं। उन्हें कषाय-नोकषाय कर्मों के मंद उदय के निमित्त से अबुद्धिपूर्वक मंद राग-द्वेष परिणाम भी धारावाहीरूप से चलते ही रहते हैं।

मुनिराज राग-द्वेष परिणामों का बुद्धिपूर्वक अनुभव भले न करते हों - त्रिकाली निज शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हों; लेकिन साधक अवस्था होने के कारण आत्मपरिणामों में विभाव भावों का सद्भाव है और उनके निमित्तभूत कर्मों की सत्ता और उदय भी है। संज्वलन कषाय-नोकषायों के मंद परिणामों के निमित्त से यथायोग्य नया कर्मबंध भी होता है।

अप्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्मसांपराय पर्यंत के चारों गुणस्थानों में होनेवाले अबुद्धिपूर्वक-विभाव भाव साधक की अपनी बुद्धि द्वारा पकड़ में नहीं आते अर्थात् उनके ज्ञान में स्पष्ट ज्ञेय नहीं बनते हैं; क्योंकि वे केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म भाव हैं।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने ही गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४६ में स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान की ध्यान की मुख्यता से भेदसहित परिभाषा निम्नानुसार भी दी है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है -

णट्ठासेसप्रमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ।।

जिनके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गये हैं; जो व्रत, गुण और शीलों से मंडित हैं, जो निरंतर आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से युक्त हैं, जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ नहीं हुए हैं और जो ध्यान में लवलीन हैं; उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

इस गाथा से स्पष्ट है कि सातवें गुणस्थान में मुनिराज को नियम से ध्यान होता ही है, जिसे शुद्धोपयोग नाम से भी कह सकते हैं।

कदाचित् इसी को धर्मध्यान आदि नाम से अन्यत्र कहा गया हो तो हमें भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। नाम तो अन्य हो सकते हैं; लेकिन सातवाँ गुणस्थान ध्यानावस्था का है, यह निर्णयरूप से हमें समझना चाहिए।

भेद अपेक्षा विचार -

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं- १.स्वस्थान अप्रमत्त, २.सातिशय अप्रमत्त।

१. स्वस्थान अप्रमत्त (निरतिशय अप्रमत्त) -

१. सर्वप्रमाद नाशक, व्रत-गुण-शीलों से सहित अनुपशमक-अक्षपक ध्यान में लीन मुनिदशा स्वस्थान अप्रमत्त है।

२. जिस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से मुनिराज नियम से छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान में जाते हैं, उस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को स्वस्थान या निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

३. भावलिंगी मुनिराज सातवें-छठवें और छठवें-सातवें गुणस्थान में सतत गमनागमन करते ही रहते हैं/झूलते ही रहते हैं। ऐसे काल में उन्हें प्राप्त होनेवाले अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को स्वस्थान या निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

२. सातिशय अप्रमत्तसंयत -

१. चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियाँ (अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४, संज्वलन ४ और हास्यादि ९ नोकषाय) के उपशम तथा क्षय में निमित्त अध:करणादि तीन करणों में से प्रथम अध:प्रवृत्तकरण दशा सातिशय अप्रमत्तसंयत है।

२. जिस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से विशेष पुरुषार्थी मुनिराज नियम से छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान में नीचे आते ही नहीं, उस अप्रमत्त दशा को सातिशय अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

३. जिस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से विशेष पुरुषार्थी मुनिराज नियम से प्रमत्तसंयत में न जाकर ऊपर अपूर्वकरण गुणस्थान में ही जाते हैं अर्थात् श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं, उसे सातिशय अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

श्रेणी तो आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से ही प्रारंभ होती है; तथापि श्रेणी की पूर्व तैयारी सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में ही होती है।

अप्रमत्त का स्पष्टीकरण -

पूर्वोक्त विकथादि पंद्रह प्रमादों की अभावरूप दशा अर्थात् शुद्धोपयोगरूप अवस्था को ही अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। अप्रमत्त दशा कहो अथवा प्रचुर आत्मानंद की दशा कहो - दोनों का एक ही अर्थ है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिजीवन की अपेक्षा इस अप्रमत्तसंयत/आत्मलीनतारूप अवस्था को सावधान अवस्था कहते हैं। जिनागम की रचना करना, धर्मोपदेश देना, स्वयं दीक्षार्थी पात्र श्रावकों को मुनिदीक्षा देना आदि कार्य करना मुनि के लिए छठवें गुणस्थान की प्रमाद दशा है।

केवलीप्रणीत वीतराग धर्म महान अद्भुत और आश्चर्यकारी है। जिन-जिन विषयों को सर्व जगत सर्वोत्तम मानता है /कहता है; उन्हीं

कार्यों को करना प्रमाद या आत्मा की असावधानता अथवा मुनिजीवन का अनुत्तम कार्य है, ऐसा कथन केवली भगवान करते हैं।

मुनिपना ही अलौकिक तथा अनुपम दशा है। यही दशा साक्षात् भगवान होने का सच्चा एकमात्र उपाय है। **साधु हुआ तो सिद्ध हुआ करनी रही न कोय** यह अभिप्राय सत्य है। साधु अर्थात् दिगम्बर मुनि हैं तो मनुष्य-गति के जीव; लेकिन वास्तव में वे चलते-फिरते सिद्ध भगवान ही हैं; क्योंकि मुनिजीवन सिद्धदशारूपी पर्वत की तलहटी ही है। जैसे सिद्ध भगवान साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा हो गये हैं; वैसे ही दिगम्बर भावलिंगी संत भी अपनी भूमिका के अनुसार ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

स्वस्थान अप्रमत्त मुनिराज को तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – इन तीनों सम्यक्त्व में से कोई भी एक सम्यक्त्व रह सकता है; परन्तु सातिशय अप्रमत्त मुनिराज को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व – इन दोनों में से ही कोई एक रहता है।

सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज को तो श्रेणी पर आरोहण करना है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ वे श्रेणी आरोहण नहीं कर सकते; क्योंकि **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जो केवलज्ञानगम्य चल मल-अगाढ दोष होते हैं, वे सूक्ष्म दोष भी श्रेणी के आरोहण कार्य में बाधक हैं।** यद्यपि ये दोष सम्यक्त्वरूपी धर्म में तो विशेष बाधा उत्पन्न नहीं कर पाते; लेकिन श्रेणी-आरोहण के अलौकिक कार्य में बाधक अवश्य होते हैं।

अत: बाधकपने को दूर करने के लिए ही मुनिराज का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ही औपशमिक सम्यक्त्वरूप से परिणमित हो जाता है। इस कारण औपशमिक सम्यक्त्व में क्षायिक सम्यक्त्व जैसी निर्मलता आ जाती है, इसी सम्यक्त्व को **द्वितीयोपशम सम्यक्त्व** कहते हैं।

श्रेणी चढ़ने के सन्मुख सातिशय सप्तम गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक

सम्यग्दृष्टि जीव के त्रिकरणपूर्वक अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क के विसंयोजन तथा दर्शन मोहनीय त्रिक के उपशम के समय होनेवाले श्रद्धा गुण के सम्यक् परिणमन को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। (उपशम श्रेणीवाले के लिए अनंतानुबंधी का विसंयोजन हो अथवा न भी हो कोई नियम नहीं है।)

चारित्र अपेक्षा विचार –

इस अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र होता है। वह क्षायोपशमिकपना निम्न प्रकार घटित होता है – प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उनके ही भविष्य में उदय आनेयोग्य स्पर्धकों का सद्अवस्थारूप उपशम और देशघाति संज्वलन कषाय तथा हास्यादि नौ नोकषायों का मंद उदय होता है।

मुनिजीवन में व्यक्त/प्रगट वीतरागभाव तो निश्चय चारित्र है और वीतरागता के साथ उसी समय अबुद्धिपूर्वक राग परिणाम, वह व्यवहार चारित्र है। निश्चय चारित्र तो मोक्षमार्गस्वरूप होने से उससे संवर-निर्जरा सतत होते रहते हैं; उसीसमय जो अबुद्धिपूर्वक कषायरूप परिणमन है, वह व्यवहार चारित्र है, उससे आस्रव-बंध भी होते रहते हैं।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्य काल – कोई प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत शुभोपयोग का अभाव करके शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में मात्र एक समय ही रहें और तत्काल ही मनुष्यायु का क्षय हो जाय तो ध्यानावस्था में ही मरण होता है। इसप्रकार मरण की अपेक्षा से ही मात्र एक समय घटित हो जाता है।

जब उपशमक मुनिराज श्रेणी से उतरते समय अपूर्वकरण गुणस्थान से नीचे सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आते हैं; तब अप्रमत्तसंयत में मात्र एक समय रह पाये और तत्काल मनुष्यायु का क्षय हो जाय तो मरण की अपेक्षा मात्र एक समय घटित हो जाता है।

उत्कृष्ट काल – यदि अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज का मरण नहीं होता है तो वे यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत इस सातवें गुणस्थान में रहते हैं। सातवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है।

मध्यम काल – छठवें गुणस्थान से ऊपर अप्रमत्तसंयत में जाने की अपेक्षा तथा अपूर्वकरण गुणस्थान से नीचे अप्रमत्तसंयत में आने की अपेक्षा भी विचार करते हैं और मरण की विवक्षा से भी सोचते हैं तो दो, तीन, चार आदि समयरूप काल से लगाकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत बीच के जितने भी भेद हैं; वे सब अप्रमत्तसंयत के मध्यम काल के ही भेद हैं।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. सातिशय अप्रमत्तसंयत मुनिराज का ऊपर की ओर गमन मात्र अपूर्वकरण गुणस्थान में ही होता है।

२. स्वस्थान अप्रमत्तसंयत मुनिराज का गमन नीचे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है।

३. यदि उपशमश्रेणी से नीचे पतन काल में कोई मुनिराज अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आये हैं तो उनका गमन भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होता है।

४. छठवें से सातवें में आये हों अथवा आठवें से सातवें गुणस्थान में आये हों तो भी यदि ध्यानमग्न मुनिराज का शुद्धोपयोग के काल में ही मरण हो जाता है तो उन मुनिराज का गमन विग्रहगति के समय चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में ही होता है।

आगमन – १. सादि या अनादि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज का मिथ्यात्व से सीधे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आगमन हो सकता है।

२. अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज का सीधे अप्रमत्तसयंत गुणस्थान में आगमन संभव है।

३. देशविरति गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज का सीधे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आगमन हो सकता है।

४. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संतों का आगमन सातवें अप्रमत्तसंयत में तो हमेशा होता ही है।

५. उपशमश्रेणी से नीचे की ओर पतन करनेवाले अपूर्वकरण गुणस्थान से अप्रमत्तसंयत में आना होता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में चार आवश्यक कार्य होते हैं।

१. समय–समय प्रति आत्मा में अनंतगुणी विशुद्धि होती रहती है। पहले समय में जितनी मात्रा में विशुद्धि है, उससे अनंतगुणी नयी विशिष्ट विशुद्धि दूसरे समय में हो जाती है। दूसरे समय की वीतरागता से तीसरे समय की वीतरागता अनंतगुणी बढ़ती है; ऐसा क्रम अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत लगातार चलता रहता है।

विशुद्धि या विशुद्धता में वृद्धिंगत वीतराग परिणाम और घटता हुआ कषाय का अंश – दोनों गर्भित हैं। इसे मिश्रधारा भी कहते हैं।

जैसे – किसी आदमी को आज पहले दिन दस रुपये का लाभ हुआ है। वह दस रुपयों का लाभ प्रत्येक दिन दस गुणा बढ़ता रहता है तो उसे सातवें दिन कितना लाभ होता है, इसका निर्णय कर लेते हैं। इसी से वीतरागता में अनंतगुणी वृद्धि का अनुमान हो जाता है।

(१) पहले दिन का लाभ मात्र दस रुपया का है।

(२) दूसरे दिन का लाभ दसगुणा अर्थात् १० ह्र १० = १०० रुपये।

(३) तीसरे दिन का लाभ १०० ह्र १० = १००० रुपये।

(४) चौथे दिन का लाभ १००० ह्र १० = १०००० रुपये।

(५) पाँचवें दिन का लाभ १०००० ह्र १० = १००००० रुपये।

(६) छठवें दिन का लाभ १ लाख ह्र १० = १० लाख रुपये।

(७) सातवें दिन का लाभ १० लाख ह्र १० = १ करोड़ रुपये।

व्यापार में यदि किसी को रोज दस गुणा लाभ होता है तो उस व्यापारी को सातवें दिन ही १ करोड़ रुपयों का लाभ हो जाता है।

यहाँ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में तो प्रति समय अनंतगुणी वीतरागता बढ़ती ही जाती है। यदि सातिशय अप्रमत्तसंयत मुनिराज के यथायोग्य मात्र एक अंतर्मुहूर्त काल के असंख्यात समयों में समय-समय प्रति अनंतगुणी वीतरागता बढ़ती जाती है तो वह वीतरागता आगे कितनी बढ़ सकती है, इसका सामान्य बोध हमें आगम प्रमाण से हो जाता है। अनंत का प्रत्यक्ष ज्ञान तो मात्र सर्वज्ञ भगवान को ही होता है।

वीतरागता के अनंतगुणी वृद्धि का एवं कषाय के उत्तरोत्तर हानी/हीन हीन होने का यह क्रम जीव जब जक पूर्ण वीतरागतारूप नहीं परिणमता है तब तक अर्थात् ११ वें या १२ वें गुणस्थान पर्यंत लगातार चलता ही रहता है।

इसके फलस्वरूप स्वभाव में विशेष मग्नता और प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग मुनिप्रवर करते रहते हैं।

६५. प्रश्न : बारहवें गुणस्थान से आगे वीतरागता में अनंतगुणी वृद्धि क्यों नहीं होती ?

उत्तर : बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही वीतरागता परिपूर्ण प्रगट हो गयी है तो अब आगे बढ़ने के लिए कुछ अवकाश बचा ही नहीं है। अत: पूर्ण वीतराग होने पर अनंतगुणी विशुद्धिरूप पूर्ण वीतरागता सतत अखंड और अविचलरूप से अनन्तकालपर्यंत बनी ही रहती है।

६६. प्रश्न : स्थितिबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गल स्कंधों का आत्म-प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह स्थितिरूप कालावधि के बंधन को स्थितिबंध कहते हैं।

२. स्थितिबंधापसरण होता है। प्रत्येक संसारी जीव को अपनी-अपनी भूमिकानुसार मोह-राग-द्वेष परिणामों के निमित्त से प्रत्येक समय में नया कर्म का बंध होता ही रहता है। इस सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज को विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व तो है ही नहीं। वह तो चौथे गुणस्थान से ही नहीं रहता। अत: दर्शनमोहनीय के निमित्त से तो नया कर्मबंध होता ही नहीं।

अप्रमत्तसंयत मुनिराज के राग-द्वेष परिणाम भी अत्यंत हीन हो गये हैं। अगले अंतर्मुहूर्त से तो ये मुनिराज श्रेणी पर ही आरूढ़ होनेवाले हैं तथा वर्तमान काल में वीतरागता समय-समय प्रति बढ़ ही रही है। अत: **नया होनेवाला कर्मबंध उत्तरोत्तर कम स्थिति लेकर बंधता रहता है, इसे ही स्थितिबंधापसरण कहते हैं।**

जैसे किसी को पहले अंतर्मुहूर्त में सौ वर्ष के कर्म का स्थितिबंध हुआ था। उसे ही दूसरे अंतर्मुहूर्त में ९० वर्ष का स्थितिबंध होता है। तीसरे अंतर्मुहूर्त में ८० वर्ष का स्थितिबंध होता है। चौथे अंतर्मुहूर्त में ७० वर्ष का। इसतरह नये कर्म का स्थितिबंध कम कालावधि का ही होता रहता है; उसे स्थिति-बंधापसरण कहते हैं।

कर्मबंध में जीव का राग-द्वेष भाव, निमित्त मात्र है और नया कर्म बंध स्वयमेव अपने कारण से हीन स्थितिवाला बंधता जाता है। इसमें सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज का बुद्धिपूर्वक कुछ कर्तव्य नहीं है। इसलिए सर्वज्ञ कथित सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य अमृतचंद्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२ में यह विषय अत्यंत स्पष्ट रीति से आया है, जो इसप्रकार है -

जीव के किये हुए रागादि परिणामों का मात्र निमित्त पाकर **कार्माण वर्गणाओं के पुद्गल स्कंध आत्मा में अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं।**

६७. प्रश्न : निमित्त-नैमित्तिक संबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब उपादान स्वत: कार्यरूप परिणमता है, तब भावरूप या अभावरूप किस उचित (योग्य) निमित्त कारण का उसके साथ सम्बन्ध है - यह बताने के लिए उस कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। इस तरह से भिन्न पदार्थों के इस स्वतन्त्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रता का सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है; उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहा है, उसी को उपादान की अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं। **(यह संबंध दो द्रव्यों - उपादान एवं निमित्त की एक समयवर्ती वर्तमानकाल की पर्यायों में ही बनता है।)**

३. प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनंतगुणा बढ़ता है। प्रशस्त प्रकृति का अर्थ है साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृति। इस विषय को समझने के लिए हम पहले यह निर्णय करें कि पुण्यकर्म का बंध श्रावक को अधिक होता है या मुनिराज को। श्रावक के जीवन में बाह्य पुण्यक्रिया अधिक होती है, क्योंकि पूजा, प्रतिष्ठा, विधान, दान, परोपकार, यात्रादि सर्व पुण्य क्रियायें श्रावक ही तो करता है।

मुनिजीवन में पुण्यरूप बाह्य क्रियाकाण्ड के लिए अवकाश ही नहीं है; क्योंकि पुण्य क्रियाएँ आरंभमूलक होती हैं और मुनिराज तो आरंभ के त्यागी हैं; तथापि मुनिजीवन में पुण्य भाव अधिक होता है।

इसका मूल कारण मुनिमहाराज की कषायों की मंदता अर्थात् विशेष विशुद्धता ही है। **जहाँ कषायों की अधिक मंदता होती है, वहाँ पुण्य का अनुभाग बंध अधिक होता है, ऐसा स्वाभाविक नियम है।**

सातिशय अप्रमत्तसंयत अवस्था में विराजमान मुनिराज की वीतरागता तो विशेष है ही और प्रतिसमय अनंतगुणी बढ़ भी रही है। उसके साथ ही साथ विद्यमान संज्वलन कषाय उत्तरोत्तर अति-अति मंद होती जा रही है। इस कारण नया पुण्यकर्म का बंध तो अल्प स्थिति और अधिक अनुभाग वाला होता ही है; लेकिन पूर्वबद्ध प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियों का अनुभाग भी प्रतिसमय अनंतगुणा बढ़ता अर्थात् उत्कर्षित ही होता रहता है।

४. अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय प्रति अनंतगुणा घटता है। मुनिराज की वीतरागता का बढ़ना, कषाय का सतत मंद होते जाना - इन विशुद्ध परिणामों के निमित्त से सत्ता में स्थित तथा नये पाप कर्मों का अनुभाग घटना भी स्वयमेव होता जाता है।

जैसे गुड़ मीठा होता है, शक्कर मीठी होती है और मिश्री भी मीठी होती है; तथापि इन तीनों के मीठेपन में अंतर होता है। वैसे ही कर्मों की फलदान शक्ति में भी अलग-अलग बढ़ती हुई अथवा घटती हुई विशेषताएँ होती हैं, उसे ही अनुभाग बंध समझना चाहिए।

देखो, प्रकृति की विचित्रता ! **मिथ्यादृष्टि जीव अंतरंग की रुचि से पुण्य चाहता है; लेकिन उसे पुण्य मिलता नहीं, उलटा पुण्य की चाह से पाप की ही प्राप्ति होती है। सम्यग्दृष्टि पुण्य चाहता नहीं अर्थात् पुण्य को हेय मानता है तो भी उसे सातिशय पुण्य का बंध होता रहता है।**

आगे श्रेणी के सन्मुख या श्रेणी पर आरूढ़ साधक के धर्म तो विशेष बढ़ता ही जाता है, साथ ही पुण्य का अनुभाग भी प्रति समय अनंतगुणा बढ़ते जाना और उसी समय पाप का अनुभाग भी प्रतिसमय अनंतगुणा घटते रहना ये कार्य स्वयमेव तथा सतत होते रहते हैं।

ऊपर लिखित (१) प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि (२) स्थिति बंधापसरण (३) प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणा बढ़ना और ४. अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणा घटना - ये चारों आवश्यक कार्य सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में प्रारंभ हो जाते हैं और आगे आठवें, नववें और दसवें गुणस्थानों में भी होते ही रहते हैं।

६८. प्रश्न : उपशांत मोह आदि आगे के चारों गुणस्थानों में ये ऊपर लिखित चारों आवश्यक कार्य क्यों नहीं होते ?

उत्तर : इसके निम्नानुसार तीन कारण हैं -

(१) उपशांत मोह आदि आगे के चारों गुणस्थानों में नवीन कर्मों का बंध होना ही रुक गया है, अत: स्थिति कम होने का काम ही नहीं रहा।

(२) उपशांत मोह आदि आगे के चारों गुणस्थानों में मुनिराज पूर्णत: वीतरागी हो गये हैं; इस कारण इन आवश्यक कार्यों के लिए अवकाश ही नहीं है।

(३) कषाय-नोकषायों का अभाव ही हो गया है, इस कारण अनुभाग घटने-बढ़ने का कुछ काम ही नहीं रहा। इसीलिए चारों आवश्यक कार्य ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में होते ही नहीं।

५. सातवें गुणस्थान के नाम में **अप्रमत्त** शब्द आया है, वह आदि दीपक है; क्योंकि इस सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थान अप्रमत्त ही होते हैं।

अप्रमत्त दशा अर्थात् ध्यानावस्था, शुद्धोपयोग, आत्मलीनता, शुद्धात्मा की अस्ति की मस्ति में मग्नता - ऐसे अनेक नाम हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में निवास करनेवाले सर्व महामुनिराज अभूतपूर्व अतीन्द्रिय आत्मानन्द का प्रचुरता से रसपान करते हैं।

६. उपरिम समयवर्ती जीवों के परिणामों से निम्न समयवर्ती जीवों के परिणामों की सदृश-स्थिति को अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं।

समझ लो, सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती दो मुनिराज हैं। एक मुनिराज को सोलहवें समय में आने वाला शुद्ध परिणाम पंद्रहवाँ समय बीत जाने पर सोलहवें समय में हुआ। अन्य मुनिराज को विशेष पुरुषार्थ द्वारा मात्र चार समय व्यतीत होने पर ही सोलहवें समय के योग्य/सदृश शुद्ध परिणाम हो गया। इसप्रकार उपरिम समयवर्ती जीव के परिणामों से निम्न (अध:) समयवर्ती जीव के परिणामों की सदृशता घटित हुई; इसे ही अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। उपरोक्त भिन्न समयवर्ती परिणामों की सदृशता को अनुकृष्टि रचना भी कहते हैं।

७. चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षय के प्रसंग में अपूर्वकरण के सन्मुख शुद्धोपयोग परिणामों को अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं।

८. सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में मरणकर विग्रहगति के समय चौथा गुणस्थान हो जाता है। अथवा मरण के पहले सातवें गुणस्थान से गिरकर छठवें, पाँचवें, चौथे , दूसरे एवं पहले गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में आने पर मरण हो सकता है; परन्तु यह नियम नहीं है कि सातवें गुणस्थानवाले चौथे गुणस्थान में ही आकर मरण करें; क्योंकि सातवें गुणस्थान में भी मरण हो सकता है।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १७९ से १८०)

सामान्य से अप्रमत्तसंयत जीव हैं ।।१५ ।।

प्रमत्तसंयतों का स्वरूप पहले कह आये हैं, **जिनका संयम प्रमाद**

सहित नहीं होता है; उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवों के पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये।

२२. शंका – बाकी के संपूर्ण संयतों का इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये शेष संयतगुणस्थानों का अभाव हो जायेगा ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि जो आगे कहे जानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से युक्त नहीं है और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतों का ही यहाँ पर ग्रहण किया है। इसलिये आगे के समस्त संयतगुणस्थानों का इनमें अन्तर्भाव नहीं होता है।

२३. शंका – यह कैसे जाना जाय कि यहाँ पर आगे कहे जानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से युक्त संयतों का ग्रहण नहीं किया गया हैं ?

समाधान – नहीं; क्योंकि यदि यह न माना जाय, तो आगे के संयतों का निरूपण बन नहीं सकता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यहाँ पर अपूर्वकरणादि विशेषणों से रहित केवल अप्रमत्त संयतों का ही ग्रहण किया गया है।

वर्तमान समय में प्रत्याख्यानावरणीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय होने से और आगामी काल में उदय में आनेवाले उन्हीं के उदयाभावलक्षण उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय के मन्द उदय होने से प्रत्याख्यान की उत्पत्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है।

❋

८

अपूर्वकरण गुणस्थान

अपूर्वकरण नाम का यह आठवाँ गुणस्थान श्रेणी के गुणस्थानों में प्रथम गुणस्थान है।

६९. प्रश्न : श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्रमोहनीय कर्म की (**अनंतानुबंधी चतुष्क रहित**) २१ प्रकृतियों के उपशम या क्षय के निमित्त से **वृद्धिंगत होनेवाले जीव की विशुद्धि को/वीतराग परिणामों को श्रेणी कहते हैं।** श्रेणी के दो भेद हैं – उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी।

७०. प्रश्न : उपमशश्रेणी और क्षपकश्रेणी की क्या परिभाषा है ?

उत्तर : जिसमें चारित्र मोहनीयकर्म के २१ प्रकृतियों के उपशम के साथ विशुद्धि/वीतरागता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ ये चार गुणस्थान उपशमश्रेणी के हैं।

जिसमें चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षय के साथ वीतरागता/विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ ये चार गुणस्थान क्षपकश्रेणी के हैं।

७१. प्रश्न : चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों की क्षपणा (क्षय) करनेवाले क्षपक मुनिराज सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान से क्या उपशांत मोह गुणस्थान को लांघकर क्षीणमोही हो जाते हैं ?

उत्तर : नहीं, यहाँ लांघकर जाने की बात ही नहीं है। क्षपक मुनिराज चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करते हुए उत्तरोत्तर वीतरागता बढ़ाते हुए उसे पूर्ण करते हैं अर्थात् सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में शेष सूक्ष्म लोभ कषाय कर्म का भी क्षय करके सीधे क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। इसलिए उनके मार्ग में उपशांतमोह गुणस्थान के आने का प्रश्न ही नहीं है। क्षय करनेवाले के मार्ग में कर्मों के उपशम के स्थान कैसे आ सकते हैं ? दोनों का स्वरूप एक-दूसरे से भिन्न ही है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५० में अपूर्वकरण गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है –

अंतोमुहुत्त कालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समिल्लियइ ।।

अध:प्रवृत्तकरण संबंधी अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण कर प्रति समय अनंतगुणी शुद्धि को प्राप्त हुए परिणामों को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इसमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती।

इस गुणस्थान का पूरा नाम ''अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धिसंयत'' है।

उपरिम समयवर्ती जीव के परिणाम और निम्न समयवर्ती जीव के परिणामों में समानता का होना, उसे अनुकृष्टि कहते हैं। ऐसी समानता अपूर्वकरण गुणस्थान में नहीं हो सकती; **क्योंकि अपूर्वकरण गुणस्थान में जीव के प्रत्येक समय के परिणाम पूर्व समय की अपेक्षा अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं; अर्थात् यहाँ एक समय के परिणामों की समानता दूसरे समय के परिणामों के साथ** कभी हो ही नहीं सकती।

भेद अपेक्षा विचार – उपशमक अपूर्वकरण और क्षपक अपूर्वकरण – ऐसे दो भेद हैं।

अपूर्वकरणप्रविष्ट शुद्धिसंयत संबंधी स्पष्टीकरण –

शब्दार्थ – अ = नहीं, पूर्व = पहले, अपूर्व = अत्यन्त नवीन, करण = परिणाम; अर्थात् पूर्व में कभी भी प्रगट नहीं हुए हों ऐसे अत्यन्त नवीन शुद्ध परिणाम। **प्रविष्ट** = प्रवेश प्राप्त, **शुद्धि** = शुद्धोपयोग, **संयत** = शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक्तया लीन।

चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम या क्षय में निमित्त होनेवाले, पूर्व में अप्राप्त, विशिष्ट वृद्धिंगत, शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धिसंयत है।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

अपूर्वकरण गुणस्थान में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व इन दोनों सम्यक्त्वों में से मुनिराज को कोई एक सम्यक्त्व रहता है। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज तो उपशम श्रेणी पर ही आरूढ़ होते हैं

और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज उपशम अथवा क्षपक इन दोनों श्रेणियों में से किसी भी एक श्रेणी पर आरोहण कर सकते हैं।

७२. प्रश्न : द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ते; इसका क्या कारण है ?

उत्तर : पुरुषार्थ की कमी के कारण जिन मुनिराजों ने यथार्थ श्रद्धा में बाधक दर्शनमोहनीय कर्मों का सत्ता में से सर्वथा नाश नहीं किया हो, उन्हें चारित्रमोहनीय कर्म का नाश करने का उग्र पुरुषार्थ कहाँ से और कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

वास्तविक स्थिति यह है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के पास अभी दर्शनमोहनीय कर्म की सत्ता है; इस कारण कुछ विशिष्ट काल समाप्त हो जाने पर वे मुनिराज कदाचित् नीचे के गुणस्थानों में गिरकर मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं। अपने पुरुषार्थ की कमी के कारण, पूर्व संस्कारवश व सत्ता में रहे हुए कर्म का उदय आने पर किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल पर्यंत संसार में परिभ्रमण भी कर सकते हैं।

जिन मुनिराज की श्रद्धा भविष्य में किंचित् मात्र भी मलिन होने की संभावना है, उन मुनिराज की वर्तमानकालीन पर्याय में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने की योग्यता नहीं होती।

ऊपर के विवेचन से हमें यह निर्णय हो जाता है कि श्रद्धा की किसी भी प्रकार की अंशमात्र भी कमी अथवा उसके बाधक कर्म की सत्ता भी चारित्र की निर्मलता में और पूर्णता में बाधक होती है। इसलिए प्रथम श्रद्धा की निर्मलता के लिए अप्रतिहत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

श्रद्धा की क्षायिकरूप परिपूर्ण निर्मल दशा प्रगट होने पर ही चारित्र की पूर्णता करने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

चारित्र अर्थात् सर्वोत्कृष्ट धर्म, मुक्ति की प्राप्ति का साक्षात् कारणरूप धर्म प्रगट करने के लिये अथवा विशेष विकसित करने के लिये अथवा पूर्ण करने के लिये सर्वप्रथम, धर्म का मूल जो सम्यग्दर्शन है, वह क्षायिकरूप होना ही चाहिए; ऐसा सर्वथा नियम है। इसलिए द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी मुनिराज की क्षपकश्रेणी चढ़ने की वर्तमान काल में योग्यता नहीं होती है।

दर्शनमोहनीय कर्म का पूर्ण नाश होने पर ही चारित्रमोहनीय कर्म के नाश होने का क्रम है। सर्वज्ञ भगवंतों ने केवलज्ञान से जिसे जाना है, परम्परा से प्राप्त उसी ज्ञान को दिगम्बर मुनिराजों ने शास्त्र में लिपिबद्ध किया है।

७३. प्रश्न : मुनिराज को द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होना ही नहीं चाहिए, वे ऐसा जघन्य कार्य करते ही क्यों हैं ?

उत्तर : कर्मों का उपशम करना अथवा क्षय करना यह काम न किसी मुनिराज का है और न किसी भी श्रावक का है; क्योंकि कर्म जड़ हैं और वे आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं।

मुनिराज निज शुद्धात्मा में रमण करनेरूप कार्य (चारित्र) करते रहते हैं। उसके निमित्त से कर्मों में उनकी अपनी स्वयं की योग्यतानुसार जो अवस्था होनी होती है, वह होती रहती है।

मुझे क्षायिक सम्यक्त्व करना है, इस चाह से किसी को भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता, मुक्ति भी नहीं होती है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अच्छा-बुरा अथवा दूसरे द्रव्य में कुछ हेर-फेर कर ही नहीं सकता; ऐसा निःशंक निर्णय करना चाहिए।

७४. प्रश्न : करणानुयोग के कथन के समय बीच-बीच में अध्यात्म का विषय क्या खीर में कंकड जैसा नहीं लगता ? उसे छोड़कर बात करो न !

उत्तर : अरे भाई ! तुमने यह क्या बात कर दी? करणानुयोग में अध्यात्म कंकड़ जैसा नहीं शक्कर जैसा है। **जैसे –** शक्कर बिना खीर, खीर सी नहीं लगती; वैसे ही अध्यात्म बिना करणानुयोग की अपेक्षा समझ में नहीं आती।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता; सर्वद्रव्य स्वाधीन तथा स्वतंत्र एवं स्वयं परिणमनशील है। यह तो सर्वज्ञ कथित वस्तु-व्यवस्था का मूल प्राण अर्थात् सर्वस्व है। यह मात्र अध्यात्म का ही विषय नहीं है, चारों अनुयोगों का मूल आधार है। इसके बिना जीवन में धर्म होने की बात तो जाने दो, धर्म समझने की पात्रता भी नहीं आ सकती।

७५. प्रश्न : आपने ऊपर ७३वें प्रश्न के उत्तर में कहा – ''कर्मों की अपनी-अपनी योग्यतानुसार उपशमादिक कार्य होते हैं'' इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर : पुद्‌गलमय ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों में अचेतनपना समान होने पर भी **परिणमन स्वभाव के कारण प्रत्येक कर्म की परिणमन करने की अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता होती है।**

विशेष स्पष्टीकरण निम्नानुसार है –

१.'क्षयोपशम' तो मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – इन चार घाति कर्मों में ही होता है; अन्य चार अघाति कर्मों में नहीं तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय – इन तीनों कर्मों का क्षयोपशम अनादि से निगोद जीवों में भी नियम से पाया जाता है।

२. अंतरकरणरूप/प्रशस्त उपशम अनन्तानुबंधी को छोड़कर दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्मों में ही होता है; अन्य सातों कर्मों में नहीं।

३. सदवस्थारूप या अप्रशस्त उपशम मात्र चारों घाति कर्मों में ही होता है, अन्य चारों अघाति कर्मों में नहीं।

४. विसंयोजना मात्र अनंतानुबंधी कषायों की होती है; अन्य किसी भी कर्म में या अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों की भी नहीं होती।

५. संक्रमण भी सभी कर्मों में नहीं होता। **जैसे –** आयुकर्म के चारों भेदों का परस्पर में संक्रमण नहीं होता। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयमें भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। मूल कर्मों में संक्रमण नहीं होता।

सजातीय प्रकृति के उत्तर भेदों में संक्रमण होता है। **जैसे –** साता का असातावेदनीय में। मिथ्यात्व का मिश्र में और मिश्र का सम्यक्त्व प्रकृति में; अनंतानुबंधी चारों कषायों का १२ कषाय और ९ नोकषायों में; अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषायों का अन्य कषाय-नोकषायों में आदि।

६. आयुकर्म को छोड़कर ज्ञानावरणादि **सातों कर्मों का** निरंतर बंध होता है। कदाचित् किसी को एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत आठों कर्मों का भी बंध होता है।

७. दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेदों में से मात्र मिथ्यात्व कर्म का ही बंध होता है; मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति – इन दोनों की सत्ता होती है और इनका उदय भी होता है; परन्तु नियम से बंध नहीं होता।

८. मिथ्यात्व कर्म का क्षय स्वमुख से नहीं होता। मिथ्यात्व कर्म मिश्ररूप परिणमित होता है। मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्‌प्रकृतिरूप से परिणमित होता है। तदनन्तर सम्यक्‌प्रकृति कर्म उदय में आकर स्वमुख से नष्ट होता है। इसी क्रम से मिथ्यात्व का नाश होता है।

९. अनंतानुबंधी कषाय कर्म का भी स्वमुख से क्षय नहीं होता, उसका विसंयोजना द्वारा ही अभाव होता है। वास्तव में विचार किया जाय तो विसंयोजना का अर्थ सर्व संक्रमण ही है; तथापि विसंयोजित अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी कदाचित् फिर से संयोजित भी हो सकती है, इसलिए उसे विसंयोजना कहा है। अन्य चारित्रमोहनीय प्रकृतियों में विसंयोजना नहीं होती।

१०. आयुकर्म का बंध निरंतर नहीं होता। भुज्यमान आयु कर्म (स्थितिबंध) के दो भाग व्यतीत हो जाने पर तीसरे भाग के प्रथम अंतर्मुहूर्त में **(आयु ६० वर्ष की हो तो ४० वर्ष व्यतीत होने पर)** प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें नवीन आयु कर्म का बंध न हो तो शेष आयु के त्रिभाग में दूसरा अपकर्ष काल होता है, उसमें आयुकर्म का बंध हो सकता है। यदि उसमें भी न हो तो इसी प्रकार क्रम से आठ त्रिभाग में से किसी ना किसी एक अपकर्ष काल में आयुकर्म का बंध हो सकता है। यदि आठों अपकर्ष कालों में आयु का बंध न हो तो मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व आयुकर्म का बंध अवश्य होता ही है। यह व्यवस्था कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंच जीवों की हैं।

देव और नारकियों में आयु के अंतिम छह मास में आठ अपकर्ष काल का नियम है। अथवा जिसे प्रथम अपकर्ष में या द्वितीयादि अपकर्ष काल में आयुबंध होगा तो शेष अपकर्षकालों में उसी-उसी का बंध हो सकेगा, होता ही है; ऐसा नियम नहीं।

भोगभूमी के जीवों को आयु के अंतिम नव मास शेष रहे, तब आठ अपकर्षों में आयु के बंध का नियम है। **(सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-२ पूर्वार्द्ध पृ. १९)**

११. जीव के प्रति समय में होनेवाले परिणामों को निमित्त कर कर्मों में अपनी-अपनी योग्यता से - १. **प्रकृतिबंध** भिन्न-भिन्न ही होता है। २. **प्रदेशबंध** प्रत्येक कर्म का अलग-अलग होता है ३. **स्थितिबंध** भी नियम से भिन्न-भिन्न ही और ४. **अनुभाग बंध** भी अलग-अलग ही होता है।

चारित्र अपेक्षा विचार -

अपूर्वकरण गुणस्थान में उपशमक को औपशमिक चारित्र और क्षपक को क्षायिक चारित्र होता है। वह इसप्रकार - यद्यपि अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज ने किसी भी चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय नहीं किया है; तथापि उपशमनशक्ति से समन्वित अपूर्वकरण श्रमण के औपशमिक चारित्रभाव के अस्तित्त्व को मानने में कोई विरोध नहीं। **(विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए-धवला पुस्तक ५, पृष्ठ क्र. २०५ गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १४; गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २० की टीका एवं भावदीपिका पृष्ठ २२६-२३४)**

७६. प्रश्न : उपशम तथा क्षपकश्रेणी के आरोहक (चढ़नेवाले) को औपशमिक और क्षायिकचारित्र क्यों कहा? जबकि यह कार्य तो उपशांत मोह और क्षीणमोह गुणस्थान में होता है।

उत्तर : आपका कहना सही है। उपशांत मोह गुणस्थान में पूर्ण औपशमिक चारित्र होता है और क्षीणमोह गुणस्थान में पूर्ण क्षायिक चारित्र होता है; क्योंकि वहीं चारित्रमोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम या क्षय होता है। यहाँ जो अभी कहा है, यह कथन परमसत्य होने पर भी आठवें गुणस्थान के प्रथम समय में औपशमिक चारित्र और क्षायिकचारित्र आगम में उपचार से कहा है। इस उपचार कथन का कारण भी निम्नप्रकार है -

जो महामुनीश्वर उपशम अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय में प्रवेश कर चुके हैं, वे नियम से **(यदि आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत बीच में मरण न हो तो)** क्रमपूर्वक तीन ही अंतर्मुहूर्तरूप गुणस्थानों में उत्तरोत्तर शुद्धि की वृद्धि करते हुए उपशांतमोही हो जाते हैं; इसलिए अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही औपशमिक चारित्र है; ऐसा आगम में कहा है।

क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती महामुनीश्वर के पास तो उस उपशमक से भी अधिक पुरुषार्थ है; क्योंकि क्षपक को तो मरण होने का भी अपवाद नहीं है। क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती महामुनिराज आठवें के प्रथम समय से वे मात्र यथायोग्य तीन अंतर्मुहूर्त के बाद निश्चित ही क्षायिक चारित्रवंत हो जाते हैं।

इसकारण अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से ही क्षायिक चारित्र उपचार से कहने में कुछ भी आपत्ति नहीं है।

वास्तविकरूप से सोचा जाय तो जैसे छठवें-सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र घटित होता है, वैसे ही दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत भी क्षायोपशमिक चारित्र ही घटित होता है।

काल अपेक्षा विचार -

जघन्यकाल - यदि कोई मुनीश्वर उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान में कम से कम काल रहेंगे तो मात्र एक ही समय रह सकते हैं।

जैसे - कोई महामुनिराज उपशांतमोह गुणस्थान से उतरते समय नीचे अपूर्वकरण गुणस्थान में मात्र एक समय ही रह सके और उन महामुनिराज के मनुष्यायु का क्षय हो गया, तो मरण की अपेक्षा अपूर्वकरण गुणस्थान का जघन्य काल एक समय घटित होता है।

७७. प्रश्न : आपने यह कथन क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज के ऊपर क्यों घटित नहीं किया ?

उत्तर : भाई ! क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ मुनिराज का मरण होता ही नहीं, यह अकाट्य नियम है; क्योंकि वे अप्रतिहत पुरुषार्थ के बल से कर्मों का उत्तरोत्तर क्षय करते हुए क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर रहे हैं और शीघ्र पूर्ण वीतरागता को प्राप्त करेंगे। अतः क्षपक मुनिराज के लिए मरण की अपेक्षा जघन्य एक समय नहीं घटता; इसलिए नहीं घटाया।

७८. प्रश्न : आठवें उपशमक अपूर्वकरण में आनेवाले सातिशय अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज को क्यों नहीं लिया ?

उत्तर : उपशमश्रेणी चढ़नेवाले मुनिराज आठवें गुणस्थान के पहले भाग में मरते ही नहीं हैं - ऐसा कथन आगम में आया है। अतः आठवें उपशमक अपूर्वकरणवाले मुनिराज को नहीं लिया।

७९. प्रश्न : इस आठवें उपशमक अपूर्वकरण में न मरनेरूप नियम की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : करणानुयोग शास्त्र के प्रत्येक कथन का कारण/हेतु नहीं दे सकते; क्योंकि करणानुयोग शास्त्र अहेतुवाद आगम है, इसलिए जैसा है, वैसा सर्वज्ञ भगवंतों ने कहा है, आप भी उसको आज्ञानुसार मान लो।

श्रेणी चढ़ने के तीव्र पुरुषार्थरूप परिणाम में मरण नहीं होता, यह कारण भी कह सकते हैं।

उत्कृष्टकाल – यथायोग्य एक ही अंतर्मुहूर्त है। यदि उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज अधिक से अधिक काल इस गुणस्थान में रहेंगे तो मात्र एक अंतर्मुहूर्त ही रहेंगे।

क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान का काल भी यथायोग्य अंतर्मुहूर्त ही है। इसका जघन्य-उत्कृष्ट काल, ऐसा भेद ही नहीं है।

मध्यमकाल – उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान का मरण की अपेक्षा से दो, तीन, चार आदि समयों से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत बीच के होनेवाले काल के सर्व भेद मध्यमकाल के हो सकते हैं।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. उपशमक या क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज ऊपर की ओर नियम से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में गमन करते हैं।

२. उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज श्रेणी से उतरते समय नियम से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में गमन करते हैं।

३. यदि आठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज का आठवें गुणस्थान में मरण होता है तो तत्काल ही विग्रह गति के पहले समय में ही वे चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

चढ़ते समय उपशमक अपूर्वकरण के प्रथम भाग में मरण न होने का नियम है; अन्य भाग में चढ़ते समय भी मरण हो सकता है। उतरते समय उपशमक अनिवृत्तिकरण से नीचे अपूर्वकरण गुणस्थान में किसी भी समय मरण हो सकता है।

आगमन :– १. उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान में आगमन नीचे के सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से ही होता है।

२. उपशमश्रेणी से उतरते समय ऊपर के उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से भी आठवें गुणस्थान में आगमन होता है।

३. क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान में आगमन मात्र अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से होता है; ऊपर के किसी भी गुणस्थान से नहीं; क्योंकि क्षपक नीचे उतरते ही नहीं; वे तो नियम से अरहंत बनकर सिद्ध ही हो जाते हैं।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण के निमित्त से जो चार आवश्यक बताये गये हैं, वे सर्व आवश्यक इस अपूर्वकरण गुणस्थान में भी निरन्तर होते ही रहते हैं। उनको इस आठवें गुणस्थान के संबंध में दुबारा देखने का कष्ट करें।

२. पूर्वबद्ध कर्मों का असंख्यातगुणा स्थितिकांडक घात होता है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण के निमित्त से नये बंधनेवाले कर्मों का उत्तरोत्तर अल्प स्थितिबंध होता है; इसी कार्य को **स्थितिबंधा-पसरण** कहते हैं। अपूर्वकरण के कारण पूर्वबद्ध कर्मों का स्थितिकांडक घात होता है।

यहाँ रहस्य की बात यह है कि किसी भी कर्म की स्थिति **(पुण्य हो या पाप)** कम होना साधक के लिये अच्छा ही है; क्योंकि अधिक स्थितिबंध का अर्थ संसार में अधिक समय पर्यंत रहकर जन्म-मरण की चक्की में पिसते रहना है। अल्प स्थितिबंध में तो जीव का मंदकषायरूप भाव कारण है; परन्तु स्थितिकांडक घात में तो वृद्धिंगत वीतराग परिणाम के साथ रहनेवाला मंद कषायरूप विशुद्धभाव निमित्त कारण हैं। सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में वीतरागता बढ़ गयी है।

स्थितिबंधापसरण का भाव यह है कि जैसे सामने, लड़ने के लिये आये हुए शत्रुओं को अपनी सामर्थ्य से बलहीन करते रहने के समान है और स्थितिकांडक घात का भाव यह है कि जैसे सोये हुये अथवा लड़ने के लक्ष्य से विस्मृत हुए बलवान शत्रुओं को सावधान करके अथवा शत्रुता का स्मरण दिलाकर उनके साथ अपने विशेष सामर्थ्य से लड़ते हुए उन शत्रुओं को यथा शीघ्र उनकी शक्ति क्षीण करते हुए जीत लेने के समान है।

स्थितिकांडक घात समझने के लिये नक्शे की मदद लेते हैं। लकीर पूर्वबद्ध कर्म के स्थान पर है। लकीर के ऊपरी भाग के बगल में एक चौक दिखाया है, जो बहुत वर्षों के बाद उदय में आने योग्य सत्ता में पड़े हुए कर्मों का पुंज है। उस कर्मपुंज से नीचे की ओर जाता हुआ बाण दिखाया है। इसका अर्थ बहुत वर्षों के बाद उदय में आने योग्य कर्मों को विशुद्ध परिणामों के निमित्त होने से कम वर्षों में उदय आने योग्य विशिष्ट प्रमाण से अर्थात् उपरितन विभाग में स्थित कर्मों की स्थिति घटकर अधःस्तन के विभाग में मिल गये, इसी को स्थिति-कांडकघात कहते हैं।

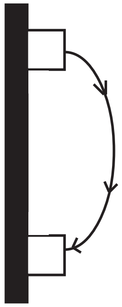

३. पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का असंख्यातगुणा अनुभाग कांडकघात होता है। वृद्धिंगत वीतरागता और मंदकषायरूप परिणामों के कारण ऊपर स्थितिकांडक घात समझाया है। नक्शे से भी समझाने का प्रयास किया है। जिस पापकर्म का जितना स्थितिकांडकघात होता है, उस मात्रा में उस पापकर्म का अनुभाग नियम से कम होता है; ऐसा कर्म शास्त्र का नियम है।

पहले समय में उदय में आनेवाले पापकर्मों में जितना अनुभाग है, उससे अगले-अगले समय में उदय में आनेवाले उन कर्मों का असंख्यात गुणा अनुभाग घटकर फलदान शक्ति की हीनता होना, असंख्यातगुणा अनुभागकांडकघात है।

अधिक अनुभागवाले कर्मपरमाणुओं का नीचे कम अनुभागवाले कर्म-परमाणुरूप विशिष्ट प्रमाण से शक्तिहीन होना ही अनुभागकांडक घात है।

अनुभाग अधिक और कर्म-परमाणु कम तथा अनुभाग कम एवं कर्म-परमाणु अधिक, ऐसा ही अनुभाग बंध और प्रदेशबंध का स्वरूप है।

४. अपूर्वकरण परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा का प्रारंभ हुआ है।

पहले समय में जितने कर्मों की निर्जरा होती है, दूसरे समय में उनसे असंख्यातगुणे अधिक कर्मों की निर्जरा होती है, उसे असंख्यातगुणी-निर्जरा कहते हैं।

●पहले तो पूर्वबद्ध सत्ता के कर्मों में जीव के परिणामों के निमित्त से स्वयमेव कर्मों की गुणश्रेणी रचना होती है। तदनंतर फिर गुणश्रेणी

निर्जरा का प्रारंभ होता है। नक्शे से इस विषय को स्पष्ट करते हैं। पास के नक्शे में १ से लेकर ७ पर्यंत संख्या क्रम से दिखाई गयी है।

एक क्रमांक की जो पहली आड़ी लकीर है, उससे द्वितीय क्रमांक की लकीर चौड़ाई में अधिक है अर्थात् पहले समय में जितने कर्मों की निर्जरा होती है, उनसे असंख्यात गुणी अधिक कर्मों की निर्जरा द्वितीय समय में होती है। द्वितीय समय में जितने कर्म निर्जरित होकर झड़ जाते हैं, तृतीय समय में उनसे असंख्यात गुणे अधिक कर्म झरते रहते हैं।

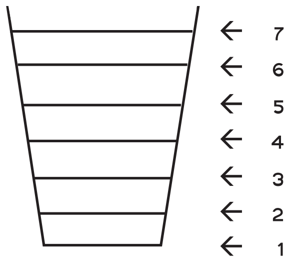

ऐसा ही क्रम अब भविष्य में अखंडरूप से बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत चलता ही रहेगा। इसे ही गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

गुणश्रेणी की रचना होना और गुणश्रेणीरूप निर्जरा होते रहना यह क्रम जीव के बुद्धिंगत शुद्ध परिणामों से स्वयमेव होता ही रहता है।

इसमें **अपने सहज स्वभाव के आश्रय से निरंतर शुद्धि की वृद्धि करते रहना; यह तो जीव का कार्य है और कर्मों की निर्जरा होना यह पुद्गल में होनेवाला कार्य है। कर्मों की निर्जरा का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, जीव नहीं।**

८०. प्रश्न : श्रेणी पर आरूढ़ मुनिराज के वीतराग परिणामों में प्रतिसमय जब अनंतगुणी वृद्धि हो रही है, तब कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुणी के स्थान पर अनंतगुणी क्यों नहीं होती?

उत्तर : श्रेणी पर आरूढ़ मुनिराज के परिणामों में विशुद्धि अनंतगुणी पाई जाती है, वह **अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से है और कर्मों की निर्जरा समयप्रबद्ध प्रमाण से होती है।**

एक संसारी जीव के अधिक से अधिक असंख्यातासंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण ही कर्म का सत्त्व पाया जाता है तो निर्जरा अनंतगुणा कैसी होगी ? एक समय में उत्कृष्ट से असंख्यात समयप्रबद्ध की ही निर्जरा होती है, उससे अधिक नहीं होती; अत: निर्जरा का प्रमाण असंख्यातगुणा ही होता है इसलिए अनंतगुणी निर्जरा नहीं होती।

यदि कर्मों की निर्जरा अनंतगुणी होगी तो अल्पकाल में ही मुनिराज के आठों कर्मों का क्षय हो जायगा और मुक्ति भी हो जायेगी। इसका अर्थ सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान के कुछ समयों में ही आठों कर्म निकल जायेंगे।

यदि अल्पकाल में ही मुनिराज सिद्ध भगवान हो जायेंगे तो गुणस्थान मात्र सात ही रहेंगे। तेरहवें गुणस्थान अरहंत अवस्था में होनेवाले विहार, दिव्यध्वनि से होनेवाला उपदेश आदि के लिये अवकाश ही नहीं रहेगा; सर्वज्ञ कथित व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

इससे दो द्रव्यों के परिणमन की स्वतंत्रता स्वयमेव स्पष्ट हो ही जाती है। **जीव द्रव्य में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि हो रही है; वह अपनी स्वतंत्र योग्यता (उपादान) से और उसी समय विशुद्धता का निमित्त पाकर सत्ता में पड़े हुए कर्मपरिणत कार्माण वर्गणारूप पुद्गलस्कंधों की असंख्यातगुणी निर्जरारूप कार्य स्वयमेव हो रहा है, वह भी पुद्गल की अपनी स्वतंत्र योग्यता से।**

किसी का परिणमन किसी के आधीन नहीं है। जीवादि सर्व अनंतानंत द्रव्यों का परिणमन अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वाधीन है।

५. गुणसंक्रमण अर्थात् अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शुभ प्रकृतियों में बदल जाती हैं।

८१. प्रश्न : संक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होने को संक्रमण कहते हैं।

जैसे – जीव के विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय प्रकृति के परमाणुओं का सातावेदनीय के रूप में परिणमित होना।

इसमें भी इतनी विशेषता है कि १. मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। २. चारों आयु कर्मों में आपस में संक्रमण नहीं होता। ३. मोहनीय कर्म का उत्तर भेद दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय कर्म में संक्रमण नहीं होता। ४. दर्शनमोहनीय के भेदों में एवं चारित्रमोहनीयकर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।

इस प्रकरण में रहस्यमय बात यह है कि **जीव के मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म बिना बदले जैसे के तैसे ही सत्ता में बने रहें और उसीरूप से उदय में आकर जीव को फल दें; ऐसा नियम नहीं है।**

जीव के परिणामानुसार सत्ता के कर्मों में परिवर्तन स्वयमेव होता ही रहता है; क्योंकि जीव के परिणाम सतत बदलते रहते हैं। **अतः पूर्वबद्ध पाप कर्मों की चिंता से व्यग्र/आकुलित होने की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं है।**

जैसे – किसी धनवान मनुष्य ने २५ वर्ष पूर्व अत्यंत उत्साह और धर्मभावना से लाखों रुपये जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, ग्रंथ प्रकाशनादि व्यवहार धर्म कार्यों में खर्च किये थे। उसके उस पुण्य परिणाम के अनुसार विशेष पुण्यकर्म का बंध भी उसीसमय स्वयमेव हुआ था।

वर्तमानकाल में उसी धनवान मनुष्य के पूर्व काल में बँधे हुए किसी पाप कर्म के उदय से दरिद्रता आ गयी है। अब वह सोच रहा है कि यदि मैं २५ वर्ष पूर्व लाखों रुपये धर्मकार्यों में खर्च नहीं करता तो अच्छा रहता, आज गरीबी नहीं आती।

वर्तमानकालीन इस विपरीत चिन्तन अर्थात् अशुभभाव से पूर्वबद्ध पुण्यकर्म प्रथम तो तत्काल क्षीण/हीन हो जाते हैं; फिर यदि अशुभ विचारों की प्रबलता रहेगी तो पुण्यकर्म संक्रमित होकर पापकर्मरूप हो जाता है; इसे संक्रमण कहते हैं। इसीप्रकार पाप का संक्रमण पुण्य में भी हो जाता है।

६. भिन्न-भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं।

जैसे :– अधःप्रवृत्तकरण में भिन्न-भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं; किन्तु इस अपूर्वकरण गुणस्थान में परिणाम समान नहीं होते। अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवों के भिन्न-भिन्न समयवर्ती के परिणाम उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न ही होते हैं और समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १८० से १८४)

अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयतों में सामान्य से उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकार के जीव हैं ।।१६ ।।

करण शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवों की अपेक्षा आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात-लोक-प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थान के अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं।

अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवों के परिणामों से भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस तरह प्रत्येक समय में होनेवाले अपूर्व परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं।

इसमें दिये गये अपूर्व विशेषण से अधःप्रवृत्त-परिणामों का निराकरण किया गया है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि जहाँ पर उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणामों के साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्त में होनेवाले परिणामों में अपूर्वता नहीं पाई जाती है।

२४. शंका – क्षपणनिमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमननिमित्तक परिणाम भिन्न हैं, उनमें एकत्व कैसे हो सकता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि क्षपक और उपशमक परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा साम्य होने से एकत्व बन जाता है।

२५. शंका – पाँच प्रकार के भावों में से इन गुणस्थान में कौनसा भाव पाया जाता है?

समाधान – क्षपक के क्षायिक और उपशमक के औपशमिक भाव पाया जाता है।

❀

९

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

अनिवृत्तिकरण नाम का यह नववाँ गुणस्थान है। श्रेणी के गुणस्थानों में इसका दूसरा क्रमांक है।

सिद्ध भगवान अनंत हैं। गुणों की अपेक्षा एक सिद्ध भगवान दूसरे किसी भी सिद्ध भगवान से छोटे अथवा बड़े नहीं होते। सभी सिद्ध भगवान समान ही होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय का नौवाँ सूत्र भेददर्शक है –

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।

क्षेत्र, काल, गति आदि बारह अपेक्षाओं से सिद्ध जीवों में भूतकाल में होनेवाली विशेषताओं की अपेक्षा भूतनैगमनय से भेद भी बताये गये हैं। वर्तमान में धर्म परिणाम की/वीतराग परिणाम की अथवा अनंत चतुष्टय की दृष्टि से अथवा सिद्धों के आठ गुणों की मुख्यता से विचार करने पर तो सिद्धों में परस्पर तिलतुषमात्र भी अंतर या भेद नहीं है।

इस अभेद अर्थात् एकरूपता का सही दृष्टि से प्रारंभ नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय से ही होता है। इसलिए इस ढाईद्वीप के किसी भी क्षेत्र में कोई भी मुनिराज भले ही वे उपशमक हों अथवा क्षपक हों, वे यदि इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में प्रवेश करते हैं, तो उनका धर्मरूप परिणाम समान ही होता है।

संक्षेप में ऐसा भी कह सकते हैं कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के समान ११वें, १२वें, १३वें और १४वें गुणस्थान पर्यंत के सर्व उत्कृष्ट साधकों में घाति-अघाति कर्मोदय से औदयिक भावों में तो परस्पर चाहे जितना भेद हो सकता है; लेकिन उनमें परस्पर वीतरागता अर्थात् धर्मपरिणाम, सुख, शांति में सबकी नियम से समानता ही रहती है।

इसका अर्थ – नौवें गुणस्थान के प्रथम समयवर्ती एक मुनिराज की

वीतरागता और अन्य जितने भी नौवें गुणस्थान के प्रथम समयवर्ती मुनिराज हैं – उन सब की वीतरागता समान ही होती है। इसीतरह १०वें, ११वें, १२वें, १३वें, १४वें गुणस्थानवर्ती साधकों की अपने-अपने गुणस्थानों में वीतरागता, सुख आदि की परस्पर में समानता ही रहती है।

इसी विषय का खुलासा धवला पुस्तक १, पृष्ठ १८७-१८८ पर निम्नप्रकार दिया है –

२६. ''**शंका –** क्षपक का स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशम का स्वतन्त्र गुणस्थान, इसतरह अलग-अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान – नहीं; क्योंकि इस गुणस्थान के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों की समानता दिखाने के लिये उन दोनों में एकता कही है। अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनों में अनिवृत्तिरूप परिणामों की अपेक्षा समानता है। कहा भी है –

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहनेवाले अनेक जीव जिसप्रकार शरीर के आकार, वर्ण आदि रूप से परस्पर भेद को प्राप्त होते हैं; उसीप्रकार जिन परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है, उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं और उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए एक से ही (समान विशुद्धि को लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्नि की शिखाओं से कर्म-वन को भस्म करनेवाले होते हैं।''

८२. प्रश्न : घाति-अघाति कर्मोदय से औदयिक तथा क्षायोपशमिक भावों में भेद हो सकता है, यह कैसे ?

उत्तर : अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती अनेक मुनिराजों का शरीर छोटा, बड़ा, पतला या मोटा हो सकता है। उन मुनीश्वरों के शरीर का वर्ण काला, गोरा हो सकता है। वे मुनिराज उम्र की दृष्टि से युवा अथवा वृद्ध भी होते हैं।

उन मुनिराजों के औदयिक भाव ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों के क्षयोपशमानुसार वर्तमान ज्ञान के विकास में परस्पर अंतर भी हो सकता है अर्थात् उनमें कोई दो ज्ञानधारी, कोई तीन ज्ञानधारी अथवा कोई चार ज्ञानधारी भी हो सकते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के धारक श्रुतकेवली-रूप महान ज्ञानी अथवा मात्र अष्ट प्रवचनमातृका को जाननेवाले अत्यल्प ज्ञान के धारकपने से अनिवृत्तिकरण के धर्मरूप परिणामों की समानता में कुछ भी भेद या अंतर नहीं होता।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५७ में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की **परिभाषा** निम्नानुसार दी है –

होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा।।

अत्यंत निर्मल ध्यानरूपी अग्नि शिखाओं के द्वारा, कर्म-वन को दग्ध करने में समर्थ, प्रत्येक समय के एक-एक सुनिश्चित वृद्धिंगत वीतराग परिणामों को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

वृद्धिंगत शुद्धोपयोगरूप ध्यान का प्रारंभ सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से हुआ है। अतः नौवें गुणस्थान में ध्यान अत्यन्त निर्मल होना स्वाभाविक ही है।

ध्यान को अग्नि की नहीं, अग्नि-शिखाओं की उपमा दी है, जो अत्यन्त उपयुक्त है। अग्नि में तो उष्णता होती है; लेकिन दाह्य वस्तु को विशेष रीति से जलाने का काम अग्नि की शिखा ही करती है। शिखा अग्नि के मानो हाथ हैं। दाह्य वस्तु को अपने कब्जे में लेने का काम शिखाओं द्वारा ही होता है। तदनंतर दाह्य वस्तु को अग्नि जलाती है। अष्ट कर्मों में मुख्यता से चारित्रमोहनीय कर्म को वन कहा है, जिसको निर्मल ध्यानरूपी अग्निशिखा जलाती है।

वास्तव में तो यह मात्र **निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनय से कथन करने की पद्धति है। सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि जब महामुनिराज अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ के बल से वीतरागभाव को**

विशेष बढ़ाते हैं, वीतरागता उत्तरोत्तर पुष्ट होती जाती है, तब उसके निमित्त से पूर्वबद्ध चारित्रमोहनीय कर्म के स्पर्धक अपने आप स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, संक्रमणादि होकर निरन्तर अकर्मरूप से परिणमित होते जाते हैं। इसी कार्य को ''ध्यानरूपी अग्निशिखाओं ने कर्मवन को जला दिया'' इन अलंकारिक शब्दों में आचार्यदेव ने कहा है।

कार्मणवर्गणायें जीव के मोह-राग-द्वेष का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप से पहले परिणमित हुई थीं। अब जीव के वीतरागभाव के निमित्त होने से कर्मरूप परिणमित कार्मणवर्गणायें स्वयमेव अकर्मरूप/कार्मणवर्गणारूप बदल रही हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल के जितने समय हैं, इस गुणस्थानवर्ती महामुनिराज के परिणाम भी उतने ही हैं और उत्तरोत्तर विशिष्ट शुद्धता सहित हैं। प्रत्येक समय का एक-एक परिणाम सुनिश्चित है। समझ लीजिए नववें गुणस्थान का काल चार समय का है तो इसके परिणाम भी चार ही हैं।

भरतक्षेत्र के एक तीर्थंकर मुनिराज हैं, एक ऐरावत क्षेत्र के ऋद्धिधारी मुनीश्वर हैं और एक विदेह क्षेत्र के सामान्य दिगंबर संत हैं - ये तीनों अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में प्रवेश करते हैं तो तीनों के परिणाम एक समान ही होते हैं।

दूसरे, तीसरे, अथवा चौथे समय में भी उन तीनों के परिणाम प्रत्येक समय के परस्पर समान-समान ही होते हैं। **मानो इन सब साधक भव्यात्माओं ने अपने सहज ज्ञानानंद एक सामान्य स्वभाव का आश्रय लेकर अनन्त सिद्धों के समान होने के लिए ही मंगलाचरण किया हो।**

नौवें गुणस्थान का पूर्णनाम ''अनिवृत्तिकरण-बादरसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयत'' है।

भेद अपेक्षा विचार - श्रेणी की अपेक्षा इसके तत्संबंधी दो भेद हैं - उपशमक अनिवृत्तिकरण और क्षपक अनिवृत्तिकरण।

१. मुनिराज के जिस वीतराग परिणाम के निमित्त से चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशमन के कार्य की तैयारी अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ होती है और तदनन्तर नववें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय को छोड़कर २० कषायों एवं समग्र नोकषायों का पूर्ण उपशम हो जाता है; उस वीतराग परिणाम को उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

२. मुनिराज के जिस वीतराग परिणाम के निमित्त से चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षय के कार्य की तैयारी आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ होती है और तदनन्तर नववें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत मात्र सूक्ष्म लोभकषाय को छोड़कर ११ कषायों एवं ९ नोकषायों का पूर्ण क्षय हो जाता है; उस वीतराग परिणाम को क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण बादरसांपराय प्रविष्ट शुद्धिसंयत का स्पष्टीकरण -

शब्दार्थ - अ + निवृत्ति = अनिवृत्ति। **अ** = नहीं। **निवृत्ति** = भेद, **करण** = परिणाम। **अनिवृत्तिकरण** = भेदरहित, सुनिश्चित समान परिणाम।

बादर = स्थूल। **सांपराय** = कषाय। **प्रविष्ट** = प्रवेश प्राप्त। **शुद्धि** = शुद्धोपयोग। **संयत** = शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक्तया लीन।

चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय में निमित्त होनेवाले संज्वलन कषाय के मंदतम उदयरूप स्थूल कषाय के सद्भाव में **सुनिश्चित उत्तरोत्तर विशिष्ट वृद्धिंगत, स्वरूपलीन शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव अनिवृत्तिकरणबादरसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत है।**

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार -

द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व - इन दोनों सम्यक्त्वों में से यहाँ एक सम्यक्त्व रहता है।

यदि मुनिराज उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती हों तो उन्हें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व इन दोनों में से कोई एक सम्यक्त्व रहता है। यदि मुनिराज क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले हों तो उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में उपशमक मुनिराज को औपशमिक चारित्र और क्षपक मुनिराज को क्षायिक चारित्र होता है; क्योंकि इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म के २० **(सूक्ष्म लोभ को छोड़कर)** प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो जाता है। **(विशेष खुलासा के लिए देखे–धवला पुस्तक ५, पृष्ठ क्र. २०५; गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १४, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २० की टीका एवं भावदीपिका पृष्ठ : २२९–२३४)**

उपशम तथा क्षपक श्रेणी का आरोहक होने से यहाँ क्रमशः औपशमिक और क्षायिक चारित्र कहा गया है। (आठवें गुणस्थान के आगे का सर्व प्रकरण यहाँ पूर्ण रीति से लागू होता है, उसे यहाँ पुनः अवलोकन कीजिए)।

इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय करने में विशिष्ट योगदान निम्नानुसार है –

सूक्ष्मता से जब हम सोचते हैं तब यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक श्रेणी के गुणस्थान तो चार–चार ही हैं, तथापि प्रत्येक श्रेणी के अंत के गुणस्थान अर्थात् उपशांतमोह और क्षीणमोह परिणामों ने चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय करने का काम तो कुछ किया नहीं।

नीचे के तीनों गुणस्थानों के प्रत्येक समय के शुद्ध भावानुसार चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय का प्रारंभ हुआ और उसके फलस्वरूप पूर्ण भी हुआ। तदनंतर ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता अपने आप प्रगट हो गयी है।

अपूर्वकरण गुणस्थान ने चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने का प्रारंभ तो किया; परन्तु किन्हीं विशेष प्रकृतियों का उपशम या क्षय नहीं हो सका। क्षय प्रारंभ करने का श्रेय कहो अथवा बहुमान कहो, मिला तो अपूर्वकरण को ही; तथापि वहाँ प्रत्यक्ष में किसी भी चारित्रमोहनीय का पूर्ण उपशम या क्षयरूप कुछ कार्य नहीं हुआ।

अब बात आती है अनिवृत्तिकरण की। **बारह कषायों में से मात्र सूक्ष्म लोभ को छोड़कर ग्यारह कषायों का और नौ नोकषायों का भी पूर्ण उपशम या पूर्ण क्षय करने का विशिष्ट महत्वपूर्ण कार्य तो मात्र एक अनिवृत्तिकरण परिणाम से ही हुआ है।**

अतः नौवें गुणस्थानवर्ती वीतराग परिणाम ने श्रेणी के अन्य तीनों गुणस्थानों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण काम हुआ है; यह बात स्वयं स्पष्ट होती है। इस दृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान असाधारण है।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – १. कोई महामुनीश्वर उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मरण की अपेक्षा से मात्र एक ही समय रहते हैं। **जैसे** कोई महामुनिराज सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान से नीचे उतरते समय नीचे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मात्र एक समय व्यतीत करते ही उनके मनुष्यायु का क्षय हो जाय तो मरण की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जघन्य काल एक समय घटित होता है।

२. अथवा उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान से ऊपर चढ़ते समय कोई मुनिराज अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आरूढ़ हुए और मात्र वहाँ एक समय रहें और तत्काल मनुष्यायु का क्षय हो जाय तो भी नौवें गुणस्थान का जघन्य काल एक समय हो सकता है।

उत्कृष्टकाल – यथायोग्य मात्र एक अंतर्मुहूर्त। यदि उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती इस नौवें गुणस्थान में अधिक से अधिक काल रहेंगे तो यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत ही रहेंगे।

क्षपक अनिवृत्तिकरण मुनिराज के जघन्य या उत्कृष्ट काल का प्रसंग ही नहीं आता; क्योंकि उनका तो न पतन होता है न मरण। इसलिए जघन्य अथवा उत्कृष्ट काल नहीं है। **जिसे जघन्य काल होता है, उसे ही उत्कृष्ट काल का व्यवहार होता है।**

मध्यमकाल – उपशम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का दो, तीन, चार, पाँच आदि समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल के बीच का काल नौवें गुणस्थान का मध्यमकाल है; वह भी मरण की ही अपेक्षा से है।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. उपशमक अथवा क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज ऊपर की ओर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

२. उपशम श्रेणी से उतरते समय अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज

उपशम अपूर्वकरण गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

३. यदि उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज का आयुक्षय के कारण मरण होता है तो वे विग्रहगति के प्रथम समय में नियम से चौथे अविरत -सम्यक्त्व गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

आगमन – १. उपशमक अनिवृत्तिकरण में आगमन नीचे के उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान से ही होता है।

२. उपशम श्रेणी से नीचे उतरते समय में दसवें उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान से ही इस नौवें गुणस्थान में आगमन होता है।

३. क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आगमन मात्र क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान से होता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. अनंतगुणी विशुद्धि आदि सर्व आवश्यक कार्य इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अष्टम गुणस्थानवत ही होते हैं; उन्हें यहाँ भी लगा लेना।

२. चारित्रमोहनीय कर्म बादरकृष्टि से सूक्ष्मकृष्टिरूप हो जाता है। इस कृष्टिकरण से सूक्ष्मलोभ कषाय के बिना शेष सर्व ग्यारह कषायें और हास्यादि सर्व नौ नोकषायों का सर्वथा उपशम या क्षय हो जाता है।

८३. प्रश्न : कृष्टिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्रम से कषायों को कृष/हीन करने को कृष्टिकरण कहते हैं। अर्थात् **अनुभाग/फल प्रदान करने की शक्ति का उत्तरोत्तर कम-कम होते जाना ही कृष्टिकरण है।** यह अति विशिष्ट महत्त्वपूर्ण कार्य अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही होता है।

८४. प्रश्न : बादरकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : (अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के पूर्व पाये जानेवाले स्पर्धकों को पूर्व स्पर्धक कहते हैं। अनिवृत्तिकरण के निमित्त से अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को अपूर्वस्पर्धक कहते हैं।)

अपूर्वस्पर्धक से भी अनंतवें भाग अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को बादरकृष्टि कहते हैं। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों के अनुभाग को घटाना/क्षीण करना ही बादरकृष्टि है। बादर शब्द का अर्थ है

स्थूल अर्थात् बड़े-बड़े टुकड़े करना।

८५. प्रश्न : सूक्ष्मकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : बादरकृष्टि से भी अनन्तवें भाग अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं।

वस्तु-व्यवस्था की अद्‌भुतता तथा सूक्ष्मता तो देखो ! क्षपक अनिवृत्तिकरणवाले महामुनिराज अब मात्र यथायोग्य दो अंतर्मुहूर्त समाप्त होते ही (अर्थात् दसवाँ और बारहवाँ गुणस्थान का समय व्यतीत करते ही) सर्वज्ञ भगवान/अरहंत बननेवाले हैं; तथापि उन्हें अभी भी आठों कर्मों की सत्ता मौजूद है; उनमें से एक भी कर्म का पूर्ण नाश नहीं हुआ है।

मोहनीय कर्म नष्टोन्मुख है; तथापि सूक्ष्मलोभ अपने सामर्थ्य से अपने अस्तित्व की जानकारी महामुनिराज को भी मानो गौरव से दिखा रहा है। **जैसे –** बुझता हुआ दीपक अन्त में भभक कर बुझ जाता है। अन्य ज्ञानावरणादि सातों कर्म अपनी-अपनी स्थिति अनुसार सत्ता में हैं; फिर भी उन सातों कर्मों की निर्जरा तो उत्तरोत्तर यथाक्रम तथा यथास्थान चालू है ही।

३. भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित, विसदृश तथा एकसमयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित, सदृश होते हैं।

४. अनिवृत्तिकरण बादर सांपराय गुणस्थान के नाम में जो **बादर** शब्द आया है, वह अंतदीपक है। पहले गुणस्थान से लेकर इस गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव बादर कषाय सहित हैं। जैसे मिथ्यात्व बादर सांपराय, सासादनसम्यक्त्व बादर साम्पराय, मिश्र बादर सांपराय आदि।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १८४ से १८७)

अनिवृत्ति बादर सांपरायिक प्रविष्ट शुद्धि संयतों में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं।।१६।।

सांपराय शब्द का अर्थ कषाय है और बादर स्थूल को कहते हैं। इसलिये स्थूल कषायों को बादर-सांपराय कहते हैं। और अनिवृत्तिरूप बादर सांपराय को अनिवृत्तिबादरसांपराय कहते हैं। उन अनिवृत्ति बादर सांपरायरूप परिणामों में जिन संयतों की विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें

अनिवृत्ति-बादरसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयत कहते हैं। ऐसे संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं। उन सब संयतों का मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है।

२७. शंका – जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं?

समाधान – नहीं; क्योंकि जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने जाय तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है। इसलिये द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत-संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

२८. शंका – इस सूत्र में संयत पद का ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संयम पाँचों ही गुणस्थानों में संभव है, इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। इसप्रकार जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं होने से यहाँ संयम पद का ग्रहण किया है।

२९. शंका – 'पमत्तसंजदा' इस सूत्र में ग्रहण किये गये संयत पद की यहाँ अनिवृत्ति होती है और उससे ही उक्त अर्थ का ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिर से इस पद का ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान – यदि ऐसा है, तो संयत पद का यहाँ पुनः प्रयोग मन्दबुद्धि जनों के अनुग्रह के लिये समझना चाहिये।

३०. शंका – यदि ऐसा है, तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में भी संयत पद का ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान – नहीं; क्योंकि दशवें गुणस्थान तक सभी जीव कषायसहित होने के कारण, कषाय की अपेक्षा संयतों की असंयतों के साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचे के दशवें गुणस्थान तक मन्दबुद्धिजनों को संशय उत्पन्न होने की संभावना है; अतः संशय के निवारण के लिये संयत विशेषण देना आवश्यक है; किन्तु ऊपर के उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में मन्दबुद्धिजनों को भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है; क्योंकि वहाँ पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्तकषाय ही होते हैं, इसलिये भावों की अपेक्षा भी संयतों की असंयतों से सदृशता नहीं पाई जाती है। अतएव यहाँ पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है।

१०

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान

सूक्ष्मसांपराय नाम का यह दसवाँ गुणस्थान है। चारित्रमोहनीय कर्म का साक्षात् उपशम या क्षय करनेवाला विशिष्ट सामर्थ्यवान गुणस्थान है।

८६. प्रश्न : यह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान बलवान या विशिष्ट सामर्थ्यवान किस अपेक्षा कहा गया है ?

उत्तर : दसवें गुणस्थान को बलवान कहने की विवक्षा यह है कि **सूक्ष्मलोभ का उपशम या क्षय करने की शक्ति न अपूर्वकरण में है और न अनिवृत्तिकरण में ही है। दसवें सूक्ष्मसांपराय में ही सूक्ष्मलोभ का नाश करने की सामर्थ्य है; अतः इसे बलवान कहा है।**

उपरोक्त कथन संज्वलन कषाय की अपेक्षा से है और संज्वलन लोभ कषाय नियम से स्वोदयी प्रकृति होने से अन्त में ही नष्ट होती है; यह भी स्मरण में रखना आवश्यक है।

८७. प्रश्न : संज्वलन क्रोध, मान, माया और स्थूललोभ, क्या सूक्ष्मलोभ से बलहीन हैं ?

उत्तर : हाँ, हैं ही; क्योंकि सूक्ष्मलोभ से पहले नौवें गुणस्थान में ही संज्वलन क्रोधादि का उपशम या क्षय हो जाता है।

८८. प्रश्न : क्या संज्वलन कषायों से भी अनंतानुबंधी आदि कषायें बलहीन हैं ? इसे स्पष्ट करें।

उत्तर : कबड्डी खेल के उदाहरण से इस प्रश्न का उत्तर जल्दी समझ में आ सकता है। खेल में जो पहले आउट/बाहर हो जाता है, उसे कमजोर खिलाड़ी माना जाता है और जो खेल के अन्त तक जमा रहता है, उसे बलवान व चतुर माना जाता है।

संज्वलन कषाय अन्त तक नष्ट नहीं होती, दसवें गुणस्थान तक जमी रहती है; इस अपेक्षा उसे बलवान कहा जाय तो कोई दोष नहीं है। वैसे तो अनंतानुबंधी को ही बलवान माना जाता है; क्योंकि वह अनन्त संसार का अनुबंध कराती है और मिथ्यात्व की सहचारिणी है।

चारित्रमोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियों में से जिस कर्म का नाश (उपशम या क्षय) पहले होता है, उसे अन्य कर्मों की अपेक्षा बलहीन माना है। इस युक्ति के आधार से संज्वलन कषायों के पहले अनंतानुबंधी आदि कषायों का उपशम या क्षय हो जाता है; इस कारण वे अनंतानुबंधी आदि कषायें संज्वलन कषायों से बलहीन सिद्ध हो जाती हैं।

जब जीव निजशुद्धात्मसन्मुख होता है, तब अधःकरण आदि परिणामों द्वारा औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। उसीसमय दर्शनमोह उपशमित होता है और अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का भी स्वयमेव अप्रशस्त उपशम हो जाता है। **दर्शनमोह को मरता हुआ जानकर मानो अनन्तानुबन्धी स्वतः मर जाती हैं।**

विशेष इतना है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय अधःकरणादि त्रिकरण परिणामपूर्वक ही अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी अन्य २१ कषाय, ९ नौकषायों में विसंयोजित हो जाती है। यहाँ अनंतानुबंधी के विसंयोजन के लिए स्वतंत्र पुरुषार्थ अपेक्षित है।

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण - आठों कषायकर्म एक साथ संज्वलन कषाय चतुष्क तथा पुरुषवेदरूप में अपने को परिवर्तित करके समाप्त हो जाते हैं।

संज्वलन आदि चारों कषायें एक साथ नष्ट नहीं होती। क्रोध कर्म, मान में बदलता है; मान, माया कर्मरूप हो जाता है; माया, लोभ में संक्रमित होती है; मात्र लोभ कषायकर्म किसी अन्यरूप नहीं होता। अतः संज्वलन लोभ का भी अंश जो सूक्ष्मलोभ वह अधिक बलवान है; जो सबसे अंत में नष्ट होता है।

८९. प्रश्न : इस युक्ति से तो चारित्रमोहनीय कर्म से भी दर्शनमोहनीय कर्म हीन शक्तिवाला सिद्ध हो जाता है।

उत्तर : हाँ, आपका कहना सही है। यदि दर्शनमोहनीय कर्म चारित्रमोहनीय कर्म से शक्तिहीन नहीं होता तो मुनिराज दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षय करके चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय के लिये श्रेणी के काल में कटिबद्ध क्यों और कैसे होते?

इसलिए मोक्षमार्गी, साधक, आत्मार्थी जीव जब कर्मों से लड़ना प्रारंभ करता है; तब आठों कर्मों में से मोहनीय कर्म से ही सबसे पहले लड़ना प्रारंभ करता है। **मोहनीय कर्मों में भी दर्शनमोहनीय से युद्ध करके उसे ही सबसे पहले पराजित करता है और स्वयं विजयी अर्थात् सम्यक्त्वी होता है।** अतः दर्शनमोहनीय कर्म स्वयं शक्तिहीन सिद्ध हो जाता है।

९०. प्रश्न : करणानुयोग में तो तर्क, हेतु, युक्ति के लिए अवकाश ही नहीं हैं; यहाँ तो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा ही मुख्य रहती है। आप करणानुयोग के विषय में तर्क का उपयोग क्यों कर रहे हो?

उत्तर : करणानुयोग शास्त्र में तर्क नहीं चलता, यह बात सच है; पर समझने-समझाने के लिये आचार्यों ने भी आगम-गर्भित युक्तियों का उपयोग किया है। स्वयं आचार्यों ने युक्ति से अनेक विषय समझाये हैं। आचार्य श्री वीरसेन ने तो करणानुयोग के शास्त्र धवलादि टीका में शंका-समाधान की पद्धति से ही समझाया है। यहाँ भी जो स्पष्टीकरण चल रहा है वह सब आगम की मर्यादा में ही चल रहा है।

९१. प्रश्न : आठों कर्मों में मोहनीय कर्म और मोहनीय में भी दर्शनमोहनीय बलवान है; ऐसा कथन शास्त्र में आया है। उसे आप आज्ञा से प्रमाण मानो।

उत्तर : हमें शास्त्र का प्रत्येक वाक्य प्रमाण है। मोह और मोह में भी दर्शनमोह कर्म बलवान है; यह सर्व विषय हम शतप्रतिशत स्वीकारते हैं। यहाँ हम इतना मात्र स्पष्ट करना चाहते हैं कि ''दर्शनमोहनीय कर्म बलवान

है'' ऐसा बताने में अनुकम्पावान आचार्य महाराज किस रहस्य की बात कहना चाहते हैं, इस पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए।

९२. प्रश्न : इसमें अति गंभीर सोच-विचार की क्या जरूरत है ? सोच-विचार के लिए अवकाश ही कहाँ है ? स्पष्ट शब्दों में आचार्यों ने शास्त्र में बताया है कि - ''दर्शनमोहनीय कर्म बलवान है।'' उसे शत प्रतिशत मान लेना ही हमारा परमकर्त्तव्य है। बस ! बात समाप्त हो ही गयी। फिर बाल की खाल निकालने में क्या लाभ है ?

उत्तर : दर्शनमोहनीय कर्म को बलवान बताने का कथन व्यवहार-नय का है; इसका अर्थ दर्शनमोहनीय कर्म बलवान नहीं है; ऐसा समझ लेना चाहिए। शास्त्र के अर्थ करने की सच्ची पद्धति यही है। इसी विषय को मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ क्रमांक २५० तथा २५१ पर निम्नानुसार कहा है -

व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। .... व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को और कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना।

व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है - ऐसा जानना।

कर्म को बलवान बताकर जीव को अधिक बलवान होने की प्रेरणा देने का आचार्यों का भाव है; न कि जीव को पुरुषार्थहीन बनाने का।

जैसे - लोक में अपनी सेना को युद्ध की तैयारी करने का उत्साह दिलाना हो तो सेनापति या राजा शत्रु के शौर्य की जानकारी देता है; वह शत्रु से भयभीत होने के लिये नहीं, अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये; वैसे ही यहाँ कर्मों के संबंध में समझना चाहिए।

अनंत संसार का कारण मिथ्यादर्शन है और मिथ्यात्व कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है, जो सर्व कर्मों की अपेक्षा भी बहुत

अधिक है। अनादिकाल से आज तक और भविष्य में भी विश्व में अनंत जीव अनंत दुःख भोगते आ रहे हैं और भोगेंगे; यह सब मिथ्यात्व का ही प्रताप है।

संसार के सर्व दुःखों का मूल बीज मिथ्यात्व ही है। तीन सौ तिरेसठ विपरीत मतों के प्रचार-प्रसार का हेतु मिथ्यात्व ही है; इस अपेक्षा से दर्शनमोह महा बलवान है। मिथ्यात्व का नाश होते ही अनंत संसार सान्त/मर्यादित होता है और अपुनर्भव/मुक्ति के लिए मंगल प्रस्थान हो जाता है। ज्ञान तथा चारित्र सम्यग्दर्शन के ही अनुगामी हैं; इस अपेक्षा को सुरक्षित रखते हुए यहाँ चर्चा चल रही है।

९३. प्रश्न : दर्शनमोह तथा चारित्रमोह - इन दोनों में से पहले उदयनाश किसका होता है ?

उत्तर : मिथ्यात्व का नाश अनंत पुरुषार्थ से होता है और सबसे पहले उदयनाश भी मिथ्यात्व का ही होता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा चारित्र अर्थात् आत्मस्थिरता का पुरुषार्थ अनंतगुणा अधिक है।

यद्यपि चारित्रमोहनीय का उदयनाश मिथ्यात्व के उदयनाश के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु पूर्ण उदयनाश और सत्त्वनाश दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में ही होता है; यहाँ यह विवक्षा है।

वास्तव में चौथे, पाँचवें आदि आगे के प्रत्येक गुणस्थान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ भी उत्तरोत्तर अनंत-अनंतगुणा है। **भले ही श्रद्धा चौथे गुणस्थान में क्षायिक हो जाय तो भी चारित्र में उससे भी अनंतगुणा पुरुषार्थ आवश्यक है। सम्यक्त्व में प्रतीति का पुरुषार्थ और चारित्र में स्थिरता/रमणता का पुरुषार्थ होता है।**

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६० में सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है -

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।।

धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा के समान सूक्ष्म लोभ का वेदन करनेवाले उपशमक अथवा क्षपक जीवों के यथाख्यात चारित्र से किंचित् न्यून वीतराग परिणामों को सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं।

कौसुंभी वस्त्र लाल रंग का होता है। उस वस्त्र को पानी से धो लेने पर उसकी लालिमा कम हो जाती है। उस धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की लालिमा के समान सूक्ष्मलोभ परिणाम का वेदन मुनिराज करते हैं अर्थात् सूक्ष्मलोभ कषाय कर्म के उदय से महामुनिराज को अबुद्धिपूर्वक उत्तरोत्तर हीन-हीन सूक्ष्मलोभ परिणाम होता रहता है।

वैसे तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से ही मुनिराज निज सहजानंदमय शुद्धात्मा का वेदन/अनुभवन करते हैं; तथापि पूर्ण वीतरागतारूप यथाख्यात चारित्र की कमी का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से सूक्ष्मलोभ का वेदन करने वाले ऐसा कथन अशुद्धनिश्चयनय से आचार्यश्री नेमिचंद्र ने इस गाथा में किया है। इसे ही अध्यात्म की अपेक्षा व्यवहारनय का कथन कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चार कषाय, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चार कषाय और संज्वलन क्रोध, मान और माया ये कुल मिलाकर ११ कषाय और हास्यादि ९ नोकषायों के अनुदयपूर्वक व्यक्त होनेवाला वीतराग परिणाम दसवें गुणस्थान का यथार्थ स्वरूप नहीं है। वह वीतरागता सूक्ष्मलोभ के साथ हो तो दसवाँ गुणस्थान होता है; क्योंकि दसवें गुणस्थान का नाम ही सूक्ष्मसांपराय है। सांपराय शब्द का अर्थ कषाय होता है।

९४. प्रश्न : यदि सूक्ष्म लोभ को गौण किया जाय तो क्या कुछ दोष है ?

उत्तर : यदि सूक्ष्म लोभ को गौण किया जाय तो दसवें गुणस्थान में ही पूर्ण वीतरागता का स्वीकार करना अनिवार्य हो जायगा और फिर चौदह गुणस्थानों की जगह गुणस्थान तेरह ही रह जायेंगे, जो आगम को मान्य नहीं है। करणानुयोग में केवली भगवान की आज्ञा की प्रधानता रहती है, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

दसवें गुणस्थान का पूर्ण नाम ''सूक्ष्मसांपराय प्रविष्टशुद्धिसंयत है।''

भेद अपेक्षा विचार –

श्रेणी की अपेक्षा इसके दो भेद हैं – १. उपशमक सूक्ष्मसांपराय २. क्षपक सूक्ष्मसांपराय।

१. जिस वीतराग परिणाम में मात्र सूक्ष्मसांपरायरूप कलंक अर्थात् राग शेष है और अन्य सर्व कषाय-नोकषायों का सर्वथा उपशम हो गया है; उसे उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं।

२. जिस वीतराग परिणाम में मात्र सूक्ष्मसांपराय रूप कलंक अर्थात् राग शेष है और अन्य सर्व कषाय-नोकषायों का सर्वथा क्षय अर्थात् नाश हो गया है; उसे क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं।

सूक्ष्मसांपराय प्रविष्टशुद्धिसंयत संबंधी स्पष्टीकरण :-

सूक्ष्म = अत्यन्त हीन अनुभाग। **साम्पराय** = कषाय। **प्रविष्ट** = प्रवेश प्राप्त। **शुद्धि** = शुद्धोपयोग। **संयत** = शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक्तया लीन।

अत्यन्त हीन अनुभाग सहित लोभकषाय के वेदन सहित, विशिष्ट वृद्धिंगत; शुद्धात्मस्वरूप में लीन, शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव, सूक्ष्मसांपराय प्रविष्टशुद्धिसंयत हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व, इन दोनों सम्यक्त्वों में से कोई भी एक सम्यक्त्व यहाँ रहता है। यदि मुनिराज उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती हैं तो उन्हें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व – इन दोनों में से कोई एक सम्यक्त्व रहता है। यदि मुनिराज क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती हैं तो उन्हें नियम से क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में उपशमक को औपशमिक चारित्र और क्षपक को क्षायिक चारित्र होता है। इस ही चारित्र को सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र भी कहते हैं; क्योंकि यहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय एवं तदनुसार सूक्ष्म लोभ परिणाम होता है। **(विशेष के लिए देखें – धवला पुस्तक**

५, पृष्ठ २०५; गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १४, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८२० की टीका एवं भावदीपिका पृष्ठ २२६, २३४।)

वृद्धिंगत सम्यग्चारित्र में उत्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोष को बतानेवाले गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है।

इस दसवें से आगे के गुणस्थानों में चारित्र की अपेक्षा से दोषों की बात ही नहीं; क्योंकि उपशांत मोह आदि सर्व गुणस्थान सर्वथा वीतरागरूप ही हैं।

सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में चारित्र संबंधी वृद्धि का स्वरूप कुछ विशिष्ट ही है; क्योंकि उनके बाह्य प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन दिखाई नहीं देता; तथापि अंतरंग में उत्तरोत्तर विशेषरूप से चारित्र बढ़ता ही जाता है। **बढ़ते हुए चारित्र की तथा लोभ कषाय की अंतिम कड़ी का नाम सूक्ष्मसांपराय है।** दसवें गुणस्थान के सूक्ष्मसांपरायरूप दोष को मात्र आगमप्रमाण से जान सकते हैं; दूसरा कुछ बाह्यक्रिया आदि उपाय नहीं है।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – यदि कोई महामुनीश्वर उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में कम से कम रहेंगे तो मात्र एक समय रह सकते हैं; वह भी मरण की अपेक्षा। जैसे –

१. कोई महामुनिराज उपशांतमोह गुणस्थान से नीचे उतरते समय सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में एक समय रहें और तत्काल मनुष्य आयु का क्षय हो जाय तो मरण की अपेक्षा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय हो सकता है।

२. उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से ऊपर चढ़ते समय कोई मुनिराज सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में मात्र एक समय आरूढ़ हुए और तत्काल मनुष्य आयु का क्षय हो जाय तो भी सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का जघन्य काल एक समय घटित हो सकता है।

उत्कृष्ट काल – सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का उत्कृष्ट काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है। यदि उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती मुनिराज अधिक से अधिक इस दसवें गुणस्थान में रहें तो यथायोग्य मात्र एक अंतर्मुहूर्त रह सकते हैं।

क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का उत्कृष्ट काल तो यथायोग्य एक ही अंतर्मुहूर्त है। क्षपक का जघन्यकाल या मध्यमकाल होता ही नहीं।

मध्यमकाल – उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान का दो समय, तीन, चार, पाँच आदि समयों से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल के बीच का काल दसवें गुणस्थान का मध्यमकाल हो सकता है; वह भी मरण की अपेक्षा।

गमनागमन की अपेक्षा विचार –

गमन – १. उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती महामुनिराज ऊपर की ओर उपशांतमोह गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

२. उपशमश्रेणी से उतरते समय सूक्ष्मसांपराय मुनिराज ही दसवें गुणस्थान से नीचे नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में गमन करते हैं।

३. यदि उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती मुनिराज का मरण हो जाय तो विग्रहगति के समय उनका चौथे गुणस्थान में ही गमन होता है।

४. क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती महामुनिराज क्षीणमोह गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

९५. प्रश्न : क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती मुनिराज उपशांत मोह गुणस्थान में गमन क्यों नहीं करते ?

उत्तर : चारित्रमोहनीय कर्म का क्रमशः क्षय अर्थात् नाश करते-करते पूर्ण वीतरागता को अल्पकाल में प्राप्त करेंगे। अतः वे नियम से क्षीणमोह गुणस्थान में ही गमन करते हैं; ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में नहीं।

क्षपक श्रेणी के गुणस्थानों में उपशम श्रेणी का ११ वाँ गुणस्थान नहीं आता; क्योंकि क्षपक और उपशमक का मार्ग परस्पर नियम से भिन्न है।

आगमन – १. उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आगमन नीचे के उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से ही होता है।

२. श्रेणी से उतरते समय ऊपर के उपशांतमोह गुणस्थान से भी सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आगमन होता है।

३. क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आगमन मात्र क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से होता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. अनंतगुणी विशुद्धि आदि आवश्यक कार्य अष्टम गुणस्थानवत इस सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में भी सतत होते ही रहते हैं।

२. दसवें गुणस्थान के नाम के अनुसार ही दसवें में सूक्ष्मलोभ कषाय का उदय रहता है और उदय के निमित्त से अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मलोभ परिणाम भी होता रहता है; तथापि **सूक्ष्मलोभरूप चारित्रमोहनीय विभाव परिणाम से चारित्र मोहनीय क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हास्यादि ९ नोकषायों में से किसी का भी नवीन कर्मबंध नहीं होता।**

९६. प्रश्न : सूक्ष्मलोभकषाय नामक द्रव्यकर्म के उदय से सूक्ष्मलोभरूप परिणाम भी मुनिराज के होता है। ऐसी स्थिति में कम से कम सूक्ष्मलोभ का तो बंध होना ही चाहिए न ? आप नवीन कर्मबंध न होने की बात क्यों और किस आधार से करते हो ?

उत्तर : लोभरूप कषाय परिणाम अत्यंत सूक्ष्म है, जघन्य है; इसलिए चारित्रमोहनीय कर्म का बंध नहीं होता। सूक्ष्म लोभकर्म के उदयानुसार अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म लोभ का जघन्य परिणाम होता है। जब मोह परिणाम जघन्य होता है तब नवीन मोहकर्म का बंध नहीं होता; ऐसा कर्मबंध का एक अटल नियम है।

यदि जघन्य भावरूप सूक्ष्म लोभ होने पर भी नवीन सूक्ष्म लोभ कर्म का नवीन बंध भी होता रहेगा तो कभी जीव को मुक्ति होगी ही नहीं। अगर सूक्ष्म लोभ से भी सूक्ष्म लोभ का बंध मानेंगे तो सूक्ष्म लोभ का उदय आता रहेगा और सूक्ष्म लोभ का बंध होता रहेगा तो जीव को कभी मुक्ति मिलेगी ही नहीं।

इस अति महत्वपूर्ण विषय को पंचास्तिकाय गाथा १०३ की टीका में स्पष्ट किया है।

''जो कर्मबंध की परंपरा का प्रवर्तन कराने वाली रागद्वेष परिणति को छोड़ता है, वह पुरुष, वास्तव में जिसका स्नेह (रागादिरूप चिकनाहट) जीर्ण होता है, ऐसा जघन्य स्नेह (स्पर्शगुण की पर्यायरूप चिकनाहट। जिसप्रकार जघन्य चिकनाहट के सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बंध से पराङ्मुख है; उसी प्रकार **जिसके रागादि जीर्ण हो जाते हैं ऐसा पुरुष भावी बंध से पराङ्मुख है।)** गुण के सन्मुख वर्तते हुए परमाणु की भाँति भावी बंध से पराङ्मुख वर्तता हुआ, पूर्व बंध से छूटता हुआ, अग्नितप्त जल की दुःस्थिति समान जो दुःख उससे परिमुक्त होता है।'' **(देखिए तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ का सूत्र क्रमांक ३४)**

इसलिए दसवें गुणस्थान में अत्यन्त सूक्ष्मरूप लोभ परिणाम होने से किसी भी प्रकार का नया कषाय व नोकषाय मोहकर्म का कर्मबंध नहीं होता है।

३. सूक्ष्मलोभ परिणाम से मोहकर्म का बंध तो नहीं होता है; तथापि इसी अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मलोभ परिणाम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय – इन तीनों घाति कर्मों तथा सातावेदनीय आदि का अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अल्प अनुभाग सहित बंध तो होता ही है।

देखो, परिणाम और कर्म बंध की विचित्रता ! क्षपक – दसवें गुणस्थानवर्ती यही महामुनिराज मात्र एक ही यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत होते ही बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान को नियम से प्राप्त करते हैं। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही इन तीनों घातिकर्मों का क्षय भी करनेवाले हैं; क्योंकि वे अंतर्मुहूर्त में ही सर्वज्ञ भगवान होनेवाले हैं। तथापि जबतक दसवें गुणस्थान में हैं तबतक तीनों घाति कर्मों का बंध होता ही रहता है।

बंध होने का यह अंतिम गुणस्थान है। क्षीणमोह गुणस्थान तथा इससे आगे के गुणस्थानों में बंध नहीं होता है; क्योंकि बंध का कारण मोहभाव का पूर्ण रीति से नाश हो गया है।

४. यहाँ **सांपराय** शब्द अंतदीपक है। अतः यह सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थानवाले सांपराय अर्थात् सूक्ष्म कषाय सहित ही हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती सर्व जीव नियम से कषाय सहित हैं। इसे समझने के लिये प्रथम गुणस्थान से सर्व दसों गुणस्थानों को निम्नानुसार लिख सकते हैं। जैसे – सांपराय मिथ्यात्व, सांपराय सासादनसम्यक्त्व, सांपराय मिश्र, सांपराय अविरतसम्यक्त्व आदि।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १८८ से १८९)

सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक दोनों हैं।।१८।।

सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसमें जिन संयतों की शुद्धि ने प्रवेश किया है, उन्हें सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। और सूक्ष्म सांपराय की अपेक्षा उनमें भेद नहीं होने से उपशमक और क्षपक, इन दोनों का एक ही गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणों की अनुवृत्ति होती है। इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत के साथ जोड़ लेना चाहिये, अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानों से इस गुणस्थान की कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है।

विशेषार्थ – यदि दशवें गुणस्थान में अपूर्व विशेषण की अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। और अनिवृत्ति विशेषण की अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और कर्मों के क्षपण और उपशमन की योग्यता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये पूर्व गुणस्थानों से इसमें सर्वथा भिन्न जाति के ही परिणाम होते हैं, इस बात के सिद्ध करने के लिये अपूर्व और अनिवृत्ति, इन दो विशेषणों की अनुवृत्ति कर लेना चाहिये। इसप्रकार इस गुणस्थान में अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपनारूप विशेषता सिद्ध हो जाती है।

इस गुणस्थान में जीव कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्व में क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है; तथा कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिक भाव सहित है और उपशम श्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावों से युक्त है; क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशमश्रेणी का चढ़ना संभव है। इस सूत्र में ग्रहण किये गये संयत पद की पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में बतलाई गई संयत पद की सफलता के समान सफलता समझ लेना चाहिये। कहा भी है –

पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक के अनुभाग से अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्मलोभ में जो स्थित है, उसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

❀

११

उपशान्तमोह गुणस्थान

ग्यारहवें गुणस्थान का नाम उपशांतमोह है। श्रेणी के चारों गुणस्थानों में उपशांतमोह उपशमश्रेणी का अन्तिम गुणस्थान है। एक अपेक्षा से विचार किया जाय तो **उपशमश्रेणी के फलरूप यह गुणस्थान है।**

चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम का प्रारंभ उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले समय से चालू हुआ था और वह उपशमन का कार्य दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में कहो अथवा ग्यारहवें गुणस्थान के पहले समय में कहो, परिपूर्ण हुआ है। इसी को निम्नप्रकार से समझ सकते हैं –

सूक्ष्मलोभकषाय का व्यय और वीतरागता का उत्पाद एक समयवर्ती है; क्योंकि उत्पाद और व्यय दोनों एक ही समय में उत्पन्न होते हैं, यह वस्तु व्यवस्था का स्वरूप है।

अंत के चारों गुणस्थान परिपूर्ण वीतरागियों के गुणस्थान हैं; उनमें यह उपशांत मोह गुणस्थान प्रथम गुणस्थान है। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती ये मुनीश्वर पूर्ण सुखी हो गये हैं।

९७. प्रश्न : आठों कर्मों की सत्ता होने पर और सातों कर्मों का उदय होते हुए उपशांतमोही मुनिराज पूर्ण सुखी कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : दुःख का मूल कारण एक मोह परिणाम ही है। उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती महामुनिराज को मोह का पूर्ण उपशम हो गया है, उनके रंचमात्र भी मोह परिणाम नहीं रहा है; अतः वे पूर्ण सुखी हैं। **सत्ता में स्थित कर्मों का वर्तमानकालीन भावों से कुछ संबंध नहीं रहता।**

शेष द्रव्यमोह कर्म दबा हुआ है; अंतर्मुहूर्त काल (उपशांतमोह गुणस्थान का काल) समाप्त होते ही चारित्रमोह कर्म का उदय अपनी योग्यता से होता है; तथापि जितने काल पर्यंत उपशांतमोही अर्थात्

वीतरागी हैं, उतने काल पर्यंत वे पूर्ण सुखी ही हैं। ज्ञानावरणादि तीनों घातिकर्मों का उदय होने से वे अल्पज्ञानी कहे जाते हैं; इसलिए अनंत सुखी नहीं हैं। मोह परिणाम का जितने काल तक सर्वथा उदयाभाव है, उतने काल तक वे पूर्णसुखी ही हैं।

इसी विषय का भाव मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ७२ पर निम्न शब्दों में व्यक्त किया है – **''जितनी-जितनी इच्छा मिटे उतना-उतना दुःख दूर होता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो तब सर्व दुःख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है।'' 'सर्व दुःख मिटता है'**, इसका ही अर्थ सुख पूर्ण होता है; यह स्पष्ट हुआ।

पाप कर्म की सत्ता होने से किसी जीव का कुछ बिगाड़ नहीं होता और पुण्य कर्म की सत्ता होने से किसी जीव का कुछ सुधार नहीं होता।

यदि **जीव मोह परिणाम करता है तो जीव का बिगाड़ है;** क्योंकि मोह स्वयं दुःखमय भाव है। यदि **जीव मोह परिणाम नहीं करता तो जीव का सुधार होता है;** क्योंकि मोह के अभाव से उत्पन्न वीतरागभाव सुखमय है।

जब जीव अपने अनादिकालीन अज्ञानवश कुसंस्कारों के अपराध से मोह परिणाम करता है, उसीसमय पूर्वबद्ध मोह कर्म का उदय निमित्तरूप से रहता ही है।

जैसे मुनिराज पार्श्वनाथ पर मुनिजीवन में जब कमठ उपसर्ग कर रहा था, तब उन्हें भविष्य में उदय आनेवाली तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता ने कुछ मदद नहीं की थी; वैसे ही यहाँ मोहनीय कर्म सत्ता में होने पर भी वह मिट्टी के ढेले के समान ही है। उसका वर्तमानकालीन भावों से कोई भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६१ में उपशांतमोह गुणस्थान की **परिभाषा** निम्नानुसार दी है –

कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो, उवसंत कसायओ होदि॥

निर्मली फल से सहित स्वच्छ जल के समान अथवा शरदकालीन सरोवर-जल के समान सर्व मोहोपशमन के समय व्यक्त होनेवाली पूर्ण वीतरागी दशा को उपशांतमोह गुणस्थान कहते हैं।

परिभाषा में उपशांतमोही जीव के वीतरागी परिणाम को स्वच्छ जल की उपमा दी है। कतकफल **(निर्मली नाम की वनस्पति का बीज जो मलिन जल को निर्मल बनाने के लिये उपयोग में लाया जाता है)** से निर्मल किया हुआ जल अर्थात् जल तो निर्मल हुआ है; तथापि मल नीचे दबा हुआ सत्ता में है; यह पहले दृष्टांत का भाव है।

दूसरा दृष्टांत शरदकालीन सरोवर का लिया है; यहाँ भी जल तो निर्मल है; लेकिन नीचे कीचड़ का अस्तित्व है; फिर भी वर्तमान में उस स्वच्छ जल में मुख या चन्द्रमा का प्रतिबिंब ज्यों का त्यों झलकता है।

इसका भाव यह है कि वर्तमान काल में तो वीतरागभाव पूर्ण निर्मल है; तथापि एक अंतर्मुहूर्त के बाद ही पूर्व संस्कारवश अपने अपराध से, कालक्षय या आयुक्षय हो जाने से रागादिरूप परिणमित हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का अंतर-करणरूप उपशम हुआ है।

९८. प्रश्न : अंतरकरणरूप उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : अधःकरणादि द्वारा उपशम विधान से अनंतानुबंधी चतुष्क बिना मोहनीय कर्म की जो उपशमना होती है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। इसे ही अंतरकरणरूप उपशम भी कहते हैं।

• आगामी काल में उदय आने योग्य कर्म परमाणुओं को जीव के परिणाम विशेषरूप निमित्त होने से आगे-पीछे उदय में आने योग्य होने को अंतरकरणरूप उपशम कहते हैं।

अंतरकरणरूप उपशम समझने के लिये परिशिष्ट क्रमांक ५ देखें –

यहाँ चारित्रमोहनीय के २१ प्रकृतियों को उपरितन तथा अधस्तनस्थिति में डालकर बीच का कुछ भाग २१ चारित्रमोहनीय कर्मों से रहित किया गया है। जब जीव अधस्तनस्थिति के कर्मों के उदय को पूर्ण भोगकर खाली जगह में आता है, तब स्वयं ही कर्म के रहितपने के कारण जीव को क्षायिक चारित्र के समान औपशमिक निर्मलभावरूप पूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है।

इस ग्यारहवें गुणस्थान का पूर्ण नाम ''उपशांतकषाय-वीतराग छद्मस्थ'' है।

उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ संबंधी स्पष्टीकरण –

उपशांतकषाय = दबी हुई कषाय। **वीतराग** = वर्तमान काल में सर्व प्रकार के रागादि से रहित। **छद्म** = ज्ञानावरण-दर्शनावरण के सद्भाव में विद्यमान अल्पज्ञान-दर्शन, **स्थ** = स्थित रहनेवाले। अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण के सद्भाव में स्थित रहनेवाले।

सर्वप्रकार की कषाय उपशांत हो जाने से वर्तमान में सर्व रागादि के अभावरूप वीतरागता प्रगट होने पर भी ज्ञानावरणादिक का क्षयोपशम होने से छद्मस्थ, अल्पज्ञ ही है।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

उपशांत मोही मुनिराज द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व-इन दोनों सम्यक्त्वों में से किसी भी एक सम्यक्त्व के धारक हो सकते हैं। किसी भी सम्यक्त्व के कारण इस उपशांतमोह गुणस्थान के सामान्य स्वरूप में अथवा सुखादि में कुछ अन्तर नहीं पड़ता है।

चारित्र अपेक्षा विचार –

यहाँ औपशमिक यथाख्यातचारित्र है।

अब इस ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान के प्रथम समय में ही शेष सूक्ष्म लोभकषाय का उदय तथा सूक्ष्मलोभ परिणाम – दोनों उपशमित हो गये हैं।

९९. प्रश्न : अनंतानुबंधी चारों कषायों का क्या हुआ है ? बताइए।

उत्तर : यदि उपशांतमोही मुनिराज क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं तो उनके अनंतानुबंधी कषायों का अभाव क्षायिक सम्यक्त्व होने के पहले ही विसंयोजन द्वारा हो गया है।

यदि उपशांतमोही मुनीश्वर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के धारक हैं तो उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने के पूर्व सातिशय अप्रमत्त अवस्था में ही उनका क्षायोपशमिक सम्यक्त्व द्वितीयोपशम सम्यक्त्वरूप से परिणमित हो जाता है। उस समय अनंतानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना या सद-वस्थारूप उपशम हो जाता है। इसलिए इनके अनंतानुबंधी की सत्ता भजनीय है अर्थात् सत्ता हो भी या न भी हो।

१००. प्रश्न : विसंयोजना किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनंतानुबंधी चारों कषायों के अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषाय और हास्यादि नौ नोकषायरूप से परिणमित होने को विसंयोजना कहते हैं। यह विसंयोजना का कार्य चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यंत कहीं पर भी हो सकता है।

उपशांतमोह गुणस्थान के प्रथम समय से ही औपशमिक चारित्र जिसका दूसरा नाम औपशमिक यथाख्यातचारित्र है, वह प्रगट हो जाता है। **इस गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत एक ही प्रकार की वीतरागता, निर्मलता, शुद्धि रहती है।** अतः चारित्र एक ही प्रकार का औपशमिक यथाख्यातचारित्र रहता है।

मोह परिणाम का अभाव इतनी विवक्षा लेकर सोचा जाय तो बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में जो क्षायिक यथाख्यातचारित्र है उसमें और ग्यारहवें गुणस्थान के औपशमिक यथाख्यातचारित्र में तिलतुष मात्र भी अंतर नहीं है। मोहकर्म की सत्ता का सद्भाव और क्षयरूप अभाव की अपेक्षा से जो अंतर है, वह विषय यहाँ गौण है।

११वें गुणस्थान के काल संबंधी जघन्य, उत्कृष्ट एवं मध्यम ऐसे तीन भेद होते हैं और १२वें गुणस्थान के कालसंबंधी कोई भेद नहीं है।

तथापि इस ग्यारहवें गुणस्थान से महामुनिराज क्रमशः नीचे कालक्षय या आयुक्षय की अपेक्षा उतरते ही हैं। इस विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ २६५ का अंतिम परिच्छेद दृष्टव्य है –

''देखो, परिणामों की विचित्रता ! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल पर्यंत संसार में रुलता है और कोई नित्य निगोद से निकलकर, मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर **अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उनके सुधारने का उपाय करना।**''

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – किसी मुनिराज ने दसवें गुणस्थान से अपनी वीतरागता को उत्तरोत्तर बढ़ाते-बढ़ाते ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में प्रवेश किया और मात्र एक समय उपशांतमोह गुणस्थान में उपशम यथाख्यात चारित्र के साथ पूर्ण वीतरागी तथा पूर्ण सुखी जीवन व्यतीत करते हुए यदि मनुष्य आयु का क्षय होता है तो मरण की अपेक्षा उपशांतमोह गुणस्थान का जघन्यकाल मात्र एक समय घटित हो जाता है। इस तरह एक ही प्रकार से जघन्यकाल घटित होता है।

उत्कृष्ट काल – कोई भी महामुनिराज यदि ग्यारहवें गुणस्थान में मरण के बिना पूर्णकाल पर्यंत रहते हैं तो यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त पर्यंत ही रहते हैं। सभी उपशांतमोही मुनिराजों का ग्यारहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल समान ही रहता है।

मध्यमकाल – जैसे ग्यारहवें गुणस्थान का जघन्यकाल मरण की अपेक्षा से एक समय जान लिया, वैसे ही मरण की अपेक्षा से ही दो, तीन, चार, पाँच आदि समयों से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त में से एक समय कम काल पर्यंत जितने भी भेद होते हैं, वे सर्व प्रकार – ग्यारहवें गुणस्थान का मध्यमकाल समझ लेना चाहिए।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – १. ग्यारहवाँ उपशांतमोह गुणस्थान, उपशमश्रेणी का अंतिम गुणस्थान है। अतः इस ग्यारहवें गुणस्थान से आगे क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में उपशांतमोही मुनिराज का गमन नहीं होता है। उपशमक मुनिराज की उपशांतमोह गुणस्थान पर्यंत ही विकसित होने की पर्यायगत योग्यता रहती है।

जैसे – खिलाड़ी गेंद को ऊपर से ठप्पा लगाकर आकाश में उछालता है। गेंद को ऊपर से जब ठप्पा लगाता है तब ही गेंद कितनी ऊपर आकाश में उछलेगी यह उसकी सामर्थ्य निश्चित होती है।

वैसे ही भावलिंगी संतों का आंतरिक बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ यही रहता है कि धारावाहीरूप से शुद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए पूर्णता को प्राप्त करें; परंतु अबुद्धिपूर्वक श्रेणी आरोहण के समय अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले समय के पुरुषार्थ के अनुसार ही यह स्वभाव से ही निश्चित हो जाता है कि ये मुनिराज ऊपर के कौन से गुणस्थान तक जायेंगे। निर्णय करानेवाला कोई कर्म अथवा अन्य कोई भी नहीं है।

२. उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराज यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत उपशांतमोह गुणस्थान में पूर्ण वीतरागी तथा पूर्ण सुखी रहते हैं। तदनंतर नीचे के उपशमक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में गमन करते हैं।

यहाँ एक सुनिश्चित नियम समझना चाहिए कि कोई भी उपशामक उपशांतमोह गुणस्थान से नीचे उतरते हैं तो वे क्रम-क्रम से छठवें गुणस्थान पर्यंत नीचे तो नियम से एक के बाद एक गुणस्थान में गमन करते हैं। ग्यारहवें से सीधे छठवें में या चौथे में अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में गमन कभी और कोई भी नहीं करते।

पण्डित भागचंद्रजी के भजन का सही भाव न समझने के कारण कुछ लोग भ्रमबुद्धि रखते हैं, वह गलत है। भजन में आया है कि –

मुनि एकादश गुणस्थान चढ़ि, गिरत तहाँ तैं चितभ्रम ठानी।
भ्रमत अर्धपुद्गल परिवर्तन, किंचित ऊन काल परमानी।।
जीव के परिणामनि की यह, अति विचित्रता देखहु ज्ञानी।

''गिरत तहाँ तैं चितभ्रम ठानी'' से जीव उपशांतमोह गुणस्थान से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में गमन करते हैं, ऐसा समझना सत्य नहीं है; क्योंकि पद्य में तो उन्होंने सामान्य कथन किया है। ऊपर जिस क्रम से नीचे उतरने की विधि कही है, वैसा ही समझना चाहिए।

वास्तव में देखा जाय तो श्रेणी चढ़ते समय मुनिराज की जिस क्रम से कर्मों की उपशमना हुई है, ग्यारहवें से वापिस नीचे लौटते समय विलोम से उन्हीं उपशमित चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। अतः छठवें गुणस्थान पर्यंत तो क्रम से ही उतर कर आते हैं। तदनंतर किसी भी गुणस्थान में गमन कर सकते हैं।

३. उपशम श्रेणी चढ़ते **(आठवें गुणस्थान का प्रथम भाग छोड़कर)** या

उतरते समय उपशमक मुनिराज का किसी भी गुणस्थान में मरण संभव है, अर्थात् मरण के अंतिम समय पर्यंत मुनिराज के श्रेणी का वही गुणस्थान रहता है, जिसमें मरण होता है; परन्तु मरण के पश्चात् विग्रहगति में वे उपशमक मुनिराज चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में ही गमन करते हैं और देवगति में ही जन्म लेते हैं।

आगमन – उपशांतमोह गुणस्थान में नीचे के मात्र उपशमक सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान से ही आगमन होता है।

जैसे – आठवें, नववें और दसवें – तीनों गुणस्थानों के उपशमक और क्षपक ऐसे दो भेद होते हैं; वैसे उपशांतमोह गुणस्थान के उपशमक और क्षपक दो भेद नहीं हैं। अतः उपशांत मोह एक ही प्रकार का है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. ग्यारहवें गुणस्थान में केवल सातावेदनीय का ईर्यापथास्रव एक समय मात्र का ही होता है; तदनंतर वह स्थिति-रहित होने के कारण झड़ जाता है। यहाँ सांपरायिक आस्रव नहीं होता; क्योंकि वे उपशांतमोही मुनिराज पूर्णरूप से कषायरहित अर्थात् वीतरागी हो गये हैं।

यद्यपि **ईर्या** शब्द का अर्थ **गमन** भी है; परन्तु यहाँ उसका अर्थ **योग** लिया गया है। **इसलिए ईर्यापथ आस्रव का अर्थ केवल योग द्वारा होनेवाला आस्रव होता है।** आशय यह है कि जैसे सूखी भींत पर धूलि आदि के फेंकने पर वह उससे न चिपककर तत्काल जमीन पर गिर जाती है; वैसे ही योग से ग्रहण किया गया जो कर्म, कषाय के अभाव में आत्मा से न चिपककर तत्काल अलग हो जाता है, वह ईर्यापथास्रव है। संसार परंपरा के लिये कारण जो सांपरायिक आस्रव है, वह इस ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं होता। **(विशेष स्पष्टीकरण धवला पुस्तक १३ में पृष्ठ ४७-४८ पर देखिए।)**

२. औपशमिक भावों का सद्भाव इस ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थानपर्यंत ही रहता है।

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दोनों शुद्धभाव तो जीव के त्रिकाली, सहज, शुद्धात्मस्वभाव के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं और उनमें कर्म का उपशम निमित्त मात्र है।

वस्तु-स्वातंत्र्य की मुख्यता से या अध्यात्म की अपेक्षा अथवा उपादान-उपादेय की अपेक्षा अथवा धर्म व्यक्त करने की भावना से सोचा जाय तो कर्म के उपशमन के समय कर्म की अपेक्षा रखे बिना ही जीव के ये दोनों – सम्यक्त्व तथा चारित्र परिणाम होते हैं; ऐसा समझना चाहिए।

श्रद्धा गुण की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है। चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत औपशमिक सम्यक्त्व भाव रह सकता है।

औपशमिक चारित्र भाव का प्रारंभ तो उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले समय से ही होता है और उसकी पूर्णता इस उपशांत मोह गुणस्थान में होती है। ग्यारहवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में औपशमिकभाव के लिये अवकाश ही नहीं है।

३. ग्यारहवें गुणस्थान के नाम में जो 'वीतराग' शब्द आया है, वह शब्द आदि दीपक है।

वीतराग शब्द के आदि दीपक का भाव स्पष्ट समझने के लिए हम निम्नप्रकार कथन कर सकते हैं। **जैसे –** वीतराग उपशांतमोह, वीतराग क्षीणमोह, वीतराग सयोगकेवली, वीतराग अयोगकेवली, वीतरागी सिद्ध भगवान।

चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से आंशिक वीतरागता का प्रारंभ होता है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी एक कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता। पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता एवं छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता और संज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायजन्य राग-द्वेष इस तरह वीतरागता + राग-द्वेष, दोनों – मिश्ररूप भाव रहता है। यह परिणामों की मिश्रता चौथे गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानपर्यंत यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान में समझ लेना चाहिए।

ग्यारहवें गुणस्थान के संबंध में विशेष –

मुनिराज के उपशम श्रेणी से पतित होने के विषय को मुख्य करके **''कर्म बलवान हैं, कर्म जीव को संसार में रुलाते हैं, कर्म के सामने**

किसी की कुछ नहीं चलती'' इत्यादि व्यवहारनय के कथन को सत्यार्थ मानकर अज्ञानी जीव जिनवाणी का ही आधार लेकर मिथ्यात्व को ही पुष्ट करते हैं।

इसलिए उपशांत मोही मुनिराज का पतन क्यों होता है; इस विषय का हमें बहुत सावधानीपूर्वक निर्णय करना चाहिए।

ग्यारहवें गुणस्थान का स्वरूप यथार्थरूप से समझने हेतु आचार्य श्री नेमिचंद्रकृत लब्धिसार गाथा ३१० की संस्कृत टीका का पंडितप्रवर टोडरमलजीकृत हिन्दी अनुवाद निम्नानुसार है –

''बहुरि या प्रकार संक्लेश–विशुद्धता के निमित्त करि उपशांत कषायतैं पड़ना–चढ़ना न हो, जातैं तहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता लिए वर्तैं हैं।''

स्पष्ट शब्दों में यहाँ आया है कि संक्लेश–विशुद्धता से गिरना–चढ़ना नहीं होता है।

आशय यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान का जितना यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल है, उतने काल में समय–समय प्रति पूर्ण वीतरागता है; वीतरागता में कुछ हीनाधिकपना नहीं है।

ग्यारहवें गुणस्थान के पहले समय से लेकर अंतिम समय पर्यंत चारित्र मोहनीय कर्म का अंतरकरणरूप उपशम होने से वहाँ की विशुद्धता में अन्तर होने में कुछ निमित्त नहीं है, विशुद्धता अवस्थित है।

फिर भी जिज्ञासु के मन में शंका उत्पन्न हो ही जाती है कि उपशांत मोह गुणस्थान से पतित होने का कुछ ना कुछ कारण तो होना ही चाहिए। इसका समाधान लब्धिसार के ही शब्दों में –

''बहुरि तहाँ तैं जो पड़ना हो है, सो तिस गुणस्थान का काल पूरा भए पीछे नियम तैं उपशम काल का क्षय होई, तिसके निमित्त तैं हो है''

संक्षेप में इतना ही समझाया है कि चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम के काल का क्षय होने से ही उपशांत मोही मुनिराज नीचे दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आते हैं।

इस ही विषय का और विशेष खुलासा आया है – **''विशुद्ध परिणामनि**

की हानि के निमित्त तैं तहाँ – (उपशांत मोह) तैं नाहीं पड़े वा अन्य कोई निमित्त तैं नाहीं पड़े है; ऐसा जानना।'' इस वाक्य में संक्लेश–विशुद्ध परिणाम निमित्त नहीं और कर्म की भी निमित्तता का निषेध किया है; क्योंकि **मुनिराज जबतक उपशांतमोह गुणस्थान में हैं, तबतक तो किसी भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का निमित्तपना बनता ही नहीं।**

जब सूक्ष्म लोभकषाय के उदय का निमित्त बनता है, तब ग्यारहवाँ गुणस्थान ही नहीं रहता, दसवाँ सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान हो जाता है। अतः उपशांत मोही मुनिवर कर्म के कारण नीचे के गुणस्थान में आये, यह व्यवहार नहीं बन सकता। **अतः काल–क्षय ही नीचे के गुणस्थान में आने का कारण बनता है।**

१०१. प्रश्न : इस ग्यारहवें गुणस्थान में क्या मुनिराज का मरण नहीं हो सकता ?

उत्तर : उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराज का अंतर्मुहूर्तकाल में से किसी भी समय में मरण हो सकता है। मरण तो होता है शुद्धोपयोगरूप (ध्यानरूप) अवस्था में और तदनंतर तत्काल ही विग्रहगति के प्रथम समय में चौथा गुणस्थान हो जाता है और वे मुनिराज देवगति में ही सौधर्मस्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत कहीं भी जन्म लेते हैं।

१०२. प्रश्न : फिर उपशांत मोह से गिरने के कारण दो हो गये। मात्र एक कालक्षय ही नहीं रहा ?

उत्तर : आपका कहना सही है। यदि मरण की अपेक्षा लेते हैं तो उपशांत मोह से गिरने के दो कारण सिद्ध हो जाते हैं। १. काल–क्षय और २. भव–क्षय। तथापि सामान्य कारण तो एक मात्र काल–क्षय ही है; क्योंकि भव–क्षयरूप कारण तो कदाचित् किसी मुनिराज के होता है तथा उपशम श्रेणी के अन्य गुणस्थानों में भी हो सकता है। भव–क्षय और आयुक्षय – इन दोनों का एक ही अर्थ है।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १८९ से १९०)

सामान्य से उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ जीव हैं।।१९।।

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है, उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। छद्म ज्ञानावरण और

दर्शनावरण को कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं, उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषण से दशम गुणस्थान तक के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिये। जो उपशान्त कषाय होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ होते हैं, उन्हें उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इससे (उपशान्तकषाय विशेषण से) आगे के गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिये।

इस गुणस्थान में संपूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। तथा सम्यग्दर्शन की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं।

❋

अथ उपशांत कषाय तैं पडने का विधान कहैं है –

टीका – उपशांत कषाय तैं पडना दोय प्रकार है – भव क्षय हेतु, उपशमकाल क्षय निमित्तक तहां मरण होतैं पर्याय का नाश के निमित्त तैं पडना होइ, सो भव क्षय हेतु कहिए। अर उपशम-काल के क्षय के निमित्त तैं पडना होइ सो उपशम काल क्षय निमित्तक कहिए।

तहां भव-क्षय हेतु विषैं कहिए है – उपशांत कषाय के काल विषैं प्रथमादि अंत समयनि पर्यंत विषैं जहां तहां आयु के नाश तैं मरि करि देव पर्याय सम्बन्धी असंयत गुणस्थान विषैं पडे, तहां असंयत का प्रथम समय विषैं बंध, उदीरणा, संक्रमण आदि समस्त कारण उघाडै है। अपने-अपने स्वरूप करि प्रगट वर्तै हैं। जातैं जे उपशांत कषाय विषैं उपशमे थे, ते सर्व असंयत विषैं उपशम रहित भए हैं।

– लब्धिसार ग्रंथ का विशेष अंश, पृष्ठ : २६७-२६८

१२

क्षीणमोह गुणस्थान

बारहवें गुणस्थान का नाम क्षीणमोह है। श्रेणी के चार गुणस्थानों में क्षीणमोह यह क्षपकश्रेणी का अंतिम गुणस्थान है। एक अपेक्षा से विचार किया जाय तो क्षपकश्रेणी के पूर्ण वीतरागता की प्राप्तिस्वरूप यह गुणस्थान है।

चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय का विशेष प्रारंभ तो क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से ही हो गया था और वह क्षय का कार्य दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में कहो अथवा बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में कहो दोनों का एक ही अर्थ है – परिपूर्ण हुआ है। इसी विषय को हम निम्नप्रकार भी समझ सकते हैं – सूक्ष्म लोभ कषाय का व्यय और पूर्ण वीतरागता का उत्पाद दोनों एक समयवर्ती हैं; क्योंकि उत्पाद और व्यय दोनों एक ही समय में होते हैं, यह वस्तु-व्यवस्था का स्वरूप है।

अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी की अपेक्षा विचार किया जाय तो चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यंत जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की है, उसी गुणस्थान से चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय का प्रारंभ हुआ है; लेकिन यहाँ चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों की मुख्यता से कथन किया है।

चौदह गुणस्थानों में से अंत के चारों गुणस्थान पूर्ण वीतरागमय हैं; उनमें क्षीणमोह दूसरे क्रमांक का और पूर्ण सुखस्वरूप गुणस्थान है।

१०३. प्रश्न : मोह कर्म नष्ट हो गया है तो क्या हुआ; अभी ज्ञानावरणादि तीनों घाति कर्मों का उदय सतत चल ही रहा है। अतः क्षीणमोही मुनिराज को पूर्ण सुखी कहना कैसे योग्य होगा ?

उत्तर : ग्यारहवें गुणस्थान के प्रारंभ में हमने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। उसे यहाँ के लिए पुनः देखें।

ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों के उदय-निमित्तिक औदयिक अज्ञान का पर्याय में सद्भाव है, ज्ञान केवलज्ञानरूप से परिणमित नहीं हुआ है और उनके क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान का आंशिक विकास हुआ है, यह बात तो सही है; तथापि ज्ञान की अल्पज्ञता दुःख में या सुख की पूर्णता में कुछ बाधक नहीं है। इसी विषय को और विशेष सुगमता से निम्नानुसार भी हम समझ सकते हैं।

१. पूर्ण सुख में जीव का मोहपरिणाम बाधक है, जिसमें मोहनीय कर्म का उदय तथा उदीरणा निमित्त है। बारहवें गुणस्थान में मोहकर्म तथा मोह परिणाम का सर्वथा अभाव होने के कारण यहाँ अनाकुल लक्षण क्षायिक अतीन्द्रिय सुख प्रगट हुआ है।

२. व्यवहारनय से अनंतसुख में बाधक अंतरंग कारण - ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायकर्म का उदय निमित्त है।

जैसे ज्ञान के सम्यक्पने में सम्यग्दर्शन निमित्त है, वैसे ही सुख की अनंतता में अनंतज्ञान भी निमित्त है; तथापि सुख की पूर्णता में ज्ञानावरणादि कर्मों का कुछ भी साक्षात् बाधकपना नहीं है।

१०४. प्रश्न : फिर अल्पज्ञ अवस्था में विकसित बारह अंग का श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान अधिक सुख का उत्पादक कारण है या नहीं ?

उत्तर : अल्पज्ञ अवस्था में विकसित ज्ञान न सुख में कारण है न दुःख में; क्योंकि ज्ञान तो ज्ञानरूप है। ज्ञान से ज्ञान होता है, सुख-दुःख नहीं। ज्ञान और सुख गुण दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं; उनका परिणमन भी भिन्न-भिन्न ही है। एक गुण अन्य गुण से रहित है - ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में भी आचार्य उमास्वामी ने कहा है - **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (अध्याय ५ सूत्र ४१)** गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और एक गुण अन्य अनंत गुणों से रहित है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही समझने से ज्ञान में निर्मलता तथा यथार्थता आती है।

१०५. प्रश्न : इसका अर्थ क्या सुखी होने के लिए ज्ञान का कुछ उपयोग ही नहीं है ?

उत्तर : ज्ञान का उपयोग क्यों नहीं ? मुख्य रीति से ज्ञान का ही उपयोग सुखी होने के लिये है। अल्पज्ञ अवस्था में विकसित ज्ञान से सर्वज्ञ कथित यथार्थ वस्तु-व्यवस्था को जानकर जीव जितना-जितना मोह कम करता जाता है; उतना-उतना सुख उत्पन्न होता जाता है। मोह परिणाम ही दुःख है और निर्मोहपना ही सुख है।

इसी विषय का स्पष्टीकरण मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३१० पर निम्नानुसार सुबोध शब्दों में किया है ..... **निर्णय करने का पुरुषार्थ करे, तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म उसके भी उपशमादि हों तब स्वयमेव भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।**

१०६. प्रश्न : इस विषय के लिए कुछ शास्त्राधार भी है ?

उत्तर : हाँ, शास्त्राधार है। जिनधर्म का कोई भी वक्ता हो वह शास्त्राधार से ही बात करता है और करना भी चाहिए। शास्त्र को प्रमाण माने बिना अपनी मति-कल्पना से समझने या समझानेवाला जिनधर्म का यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता। शास्त्र कथित विषय को युक्ति से समझाना अलग है और मात्र कल्पना से तर्क तथा युक्ति ही देते रहना अलग बात है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के तीसरे अध्याय में पृष्ठ ५० पर कहा है - **यदि जानना न होना दुःख का कारण हो तो पुद्गल के भी दुःख ठहरे; परंतु दुःख का मूल कारण इच्छा है।**

..............**मोह का उदय है; वह दुःखरूप ही है।** अधिक शास्त्राधार के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का पृष्ठ ६ और ७२ का भी अवलोकन करें।

यदि अधिक ज्ञान ही सुख का उत्पादक हो तो अल्पज्ञानधारी भावलिंगी मुनिराज से बारह अंगों के धारक असंयमी देवों, तथा ग्यारह अंग एवं नौ पूर्व के द्रव्यलिंगी मुनिराज को भी अधिक सुखी मानने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। मतिश्रुतावधि ऐसे तीन तथा मतिश्रुतावधि-मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञान के धारी मुनिराजों को अति सुखी और शिवभूति

जैसे अल्प क्षयोपशम वाले मुनिराज को कम सुखी मानना पड़ेगा, जो शास्त्र तथा युक्ति से भी सम्मत नहीं हो सकता। अतः मोह से रहित वीतराग परिणाम ही निश्चय से सुख है।

अब यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त मात्र काल व्यतीत हो जाने पर ये क्षीणमोही मुनिराज नियम से अरहंत परमात्मा हो जाते हैं।

बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज, इस गुणस्थान के प्रथम समय से ही क्षीणमोही हो गये हैं। अर्थात् आठों कर्मों में से मोह कर्म का सर्वथा नाश हो गया है। वे इस गुणस्थान के प्रथम समय से ही अरहंत परमात्मा होने के लिए तीन घाति कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा कर रहे हैं। **(असंख्यातगुणी निर्जरा तो आठवें गुणस्थान से ही चालू हो गयी थी)** वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ होना संभव नहीं है, यह बात सत्य होने पर भी वीतराग होते ही तत्काल बारहवें गुणस्थान के पहले समय में ही सर्वज्ञ नहीं होते हैं।

१०७. प्रश्न : बारहवें गुणस्थान में क्षीणमोही होते ही सर्वज्ञ हो जाना चाहिए था; इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों की सत्ता व उदय ही सर्वज्ञ होने में निमित्तरूप में बाधक है; क्योंकि दसवें गुणस्थान में भी राग परिणाम से ज्ञानावरणादि का बंध हुआ था। तथा पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मों की भी सत्ता है, उनका क्षय होते ही केवलज्ञान होता है।

तीन घातिकर्मों के नाश के लिये अंतर्मुहूर्त पर्यंत एकत्ववितर्कशुक्लध्यान/शुद्धोपयोग का होना आवश्यक है।

मुनिराज वीतराग होने के बाद सर्वज्ञ होते हैं, यह सामान्य कथन है और पूर्ण वीतराग होने पर भी एक अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत एकत्ववितर्क-शुक्लध्यान/शुद्धोपयोग करने के बाद ही तीनों घातिकर्मों का क्षय होने से मुनिराज सर्वज्ञ होते हैं, यह कथन विशेष तथा सूक्ष्म है।

(विशेष स्पष्टीकरण के लिए पंचास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीका देखिये)

यदि बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही मुनिराज सर्वज्ञ हो जाते हैं तो बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान का अभाव हो जायेगा और गुणस्थान चौदह के स्थान पर तेरह ही सिद्ध होंगे।

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार गाथा ६२ में क्षीणमोह गुणस्थान की परिभाषा निम्नप्रकार दी है -

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसायो भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं॥

स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए निर्मल जल के समान संपूर्ण कषायों के क्षय के समय होनेवाले जीव के अत्यंत निर्मल वीतरागी परिणामों को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं।

परिभाषा में क्षीणमोही जीव के वीतराग परिणाम को निर्मल जल की उपमा दी है। वह जल भी स्फटिकमणि के पात्र में रखा हुआ निर्मल जल है। यहाँ पात्र में से किसी भी प्रकार की गंदगी दुबारा पानी में आने की संभावना की शंका भी न हो, इसलिए स्फटिक मणि का पात्र लिया है।

देखो, आचार्यों की सूक्ष्मदृष्टि ने पात्र (बर्तन) को कैसा विचारपूर्वक चुना है। महापुरुषों की दृष्टि में दृष्टांत भी अनुपम एवं मूल विषय के पोषक होते हैं। क्षीणमोही मुनिराज के भावी जीवन में किसी भी प्रकार की अशुद्धता की संभावना ही नहीं है। इस अभिप्राय को अत्यंत स्पष्ट करने के लिए ही स्फटिकमणिमयी पात्र में रखा हुआ निर्मल जल लिया है।

क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराज का मोह अब तो अनंतकाल के लिये नष्ट हो गया है। अंतिम सूक्ष्मलोभ कषाय का व्यय और पूर्ण वीतरागता का उत्पाद - इन दोनों की काल-प्रत्यासत्ति को अत्यंत स्पष्ट करने के लिए बारहवें गुणस्थान की परिभाषा में "**कषायों के क्षय के समय**" इन शब्दों का प्रयोग किया है। बारहवें गुणस्थान के नाम में प्रयुक्त **क्षीण शब्द का अर्थ दुबला, निर्बल अथवा अशक्त नहीं करना चाहिए। यहाँ क्षीण शब्द का अर्थ अभाव/नाश है।**

वीतराग शब्द का शाब्दिक अर्थ है - "विगतः रागः यस्मात् सः वीतरागः" जिसमें से राग निकल गया है, उसे वीतराग कहते हैं। **यहाँ**

राग शब्द जीव के राग-द्वेष-मोह/मिथ्यात्व, क्रोधादि चारों कषाय, हास्यादि नौ नोकषाय - इन सबका ही प्रतिनिधित्व करता है। राग गया तो जीव के सर्व विभाव निकल गये हैं अर्थात् पूर्ण वीतरागता प्रगट हो गयी है।

इस वीतरागरूप मोह-क्षोभ रहित साम्यभाव को ही जिनधर्म में धर्मरूप कहा गया है। यह वीतरागता जीव के चारित्रगुण की स्वाभाविक पर्याय है। इस वीतरागता का प्रारंभ चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में होता है; अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव किसी भी गति का हो, वह धार्मिक ही है।

वीतराग पर्याय का उत्पादक तो जीव द्रव्य अथवा जीव का चारित्रगुण है; तथापि निमित्त की मुख्यता से कथन करते समय निमित्त का ज्ञान कराने के लिए संपूर्ण कषायों के क्षय के समय अथवा कर्म के क्षय से वीतरागता उत्पन्न हुई; ऐसा व्यवहारनय सापेक्ष कथन जिनवाणी में आया है।

कषाय कर्मों का नाश पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और वीतरागता जीव द्रव्य के चारित्र गुण की पर्याय - इन दोनों को एक-दूसरे का कार्य-कारण बतानेवाला ही निमित्त-नैमित्तिक का कथन कहलाता है। इसमें दोनों द्रव्यों की पर्यायों की भिन्नता तथा स्वतंत्रता का ज्ञान रखना बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

यदि कोई अज्ञानवश निमित्त-नैमित्तिक संबंध में इन दोनों पर्यायों की भिन्नता तथा स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं रख पाता और उनमें कर्त्ता-कर्म संबंध मान लेता है तो मिथ्यात्व का प्रसंग आ जाता है, जो सात व्यसनों से भी महान पाप है।

कथन जिनवाणी का होने पर भी यदि उसकी अपेक्षा समझने की सच्ची दृष्टि न प्राप्त हुई हो तो अपात्र जीव जिनवाणी के लाभ से वंचित ही रहता है; जिसके फलस्वरूप संसार में अनंत दु:खरूप जन्म-मरण ही करता रहता है।

अन्य नाम - क्षीणमोह गुणस्थान को ही क्षीणकषाय भी कहते हैं, तथा इसका पूर्ण नाम क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ है।

नाम संबंधी स्पष्टीकरण - क्षीण = नाश, नष्ट। **कषाय** = राग-द्वेष-मोह/विकारी परिणाम। **वीतराग**=रागद्वेष आदि सर्व विकारों से रहित अत्यंत निर्मल दशा। **छद्मस्थ**=ज्ञानावरणादि के सद्भाव में विद्यमान अल्प ज्ञान-दर्शन में स्थित।

सर्व कषायों के क्षय के समय अर्थात् निमित्त से पूर्ण निर्मल वीतराग दशा प्रगट हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होने से क्षीणमोही महामुनिराज छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञ ही हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार -

बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज को मात्र क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है; क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व तथा औपशमिक चारित्र की सीमा ग्यारहवें गुणस्थानपर्यंत ही रहती है।

चारित्र अपेक्षा विचार -

क्षीणमोह गुणस्थान में क्षायिक यथाख्यातचारित्र ही होता है।

क्षपक अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के आंशिक क्षय का कार्य प्रारम्भ होने से आठवें में भी उपचार से क्षायिक चारित्र कहा है।

चारित्रमोहनीयकर्म की २१ प्रकृतियों में से २० प्रकृतियों का क्षय तो नववें क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत हुआ है। दसवें गुणस्थान में मात्र सूक्ष्मलोभ कषाय शेष बची है। अब इस बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही शेष सूक्ष्म लोभ कषाय कर्म का उदय तथा परिणाम-दोनों का क्षय हो जाता है। इसलिए यहाँ क्षायिक चारित्र पूर्ण हो गया है।

काल अपेक्षा विचार -

क्षीणमोह गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है।

छठवें गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान का काल **(मरण की अपेक्षा छोड़कर)** आधा रहता है। सातवें से आठवें अपूर्वकरण का काल कुछ कम। अपूर्वकरण की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण का काल और कुछ कम। नववें से दसवें का काल उससे भी कुछ कम और क्षपक दसवें से भी

इस क्षीणमोह गुणस्थान का काल कुछ कम रहता है; तथापि छठवें से बारहवें पर्यंत प्रत्येक गुणस्थान का काल भी अंतर्मुहूर्त ही रहता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि छठवें गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान पर्यंत श्रेणी के चारों गुणस्थानों के काल का योग भी मात्र एक अंतर्मुहूर्त काल ही होता है; क्योंकि अंतर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती महामुनिराज ऊपर की ओर अकेले तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

आगमन – इस क्षीणमोह गुणस्थान में आगमन मात्र क्षपक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान से ही होता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. यहाँ मात्र साता वेदनीय का ईर्यापथास्रव होता है; क्योंकि बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज को किसी भी प्रकार का कोई भी कषाय-नोकषायरूप अर्थात् मोह कर्म का उदय तथा परिणाम नहीं रहा; वे सर्वथा वीतरागी हो गये हैं। **यहाँ आस्रव का एक मात्र कारण योग का ही सद्भाव है।**

२. क्षपक अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही चारित्र मोहनीयादि कर्मों की श्रेणीगत असंख्यातगुणी निर्जरा प्रारंभ हुई है, वह निर्जरा निरंतर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वीतराग परिणामों के निमित्त से वृद्धिंगत भी होती जा रही हैं।

बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही ज्ञानावरणादि तीनों घाति कर्मों का नया बंध होना भी सर्वथा रुक गया है। यहाँ बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में तीनों घातिकर्मों का सर्वथा नाश होते ही, उसीसमय ज्ञान-दर्शन गुण की अल्पज्ञ अवस्था का व्यय और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन पर्याय का उत्पाद एक ही समय में होता है। उसीसमय अल्प वीर्य का व्यय होकर अनंत वीर्य का उत्पाद होता है।

३. औदारिक शरीरधारी छद्मस्थ जीवों के शरीर में निरंतर अनंत निगोद जीव विद्यमान रहते हैं। क्षीणमोही मुनिराज का शरीर भी औदारिक

शरीर ही है; परन्तु इन मुनिराज के शरीर में से प्रथम समय से ही अनंत बादर निगोद जीवों का प्रति समय निकलना अर्थात् मरना प्रारंभ हो जाता है। क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय में सभी बादर निगोदिया जीवों के अभाव से अनंतर समयवर्ती तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही मुनिराज परम औदारिक शरीरधारी अरहन्त परमात्मा हो जाते हैं। **(विशेष के लिये धवला पुस्तक १४ पृष्ठ ४८८ से ४९१ पर्यंत देखिए।)**

१०८. प्रश्न : अनंत निगोद जीवों की हिंसा करनेवाले मुनिराज अहिंसा महाव्रती कैसे माने जा सकते हैं ?

उत्तर : प्रमत्तयोग का अभाव होने से मुनिराज अहिंसा महाव्रती ही हैं। उन बादर निगोद जीवों का मरण उनके आयुकर्म के क्षय के निमित्त से ही हुआ है; उसमें औदारिक शरीरधारी मुनीश्वर की कुछ भी निमित्तता नहीं है।

४. चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यंत सर्व जीवों की अंतरात्मा संज्ञा है।

५. ''क्षीणमोह'' यह शब्द आदि दीपक है। बारहवें से लेकर उपरिम गुणस्थानवर्ती सर्व जीव क्षीणमोही ही हैं। इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए निम्नप्रकार का सुलभ उपाय अच्छा है – क्षीणमोह सयोगकेवली, क्षीणमोह अयोगकेवली, क्षीणमोह सिद्ध भगवान।

६. ''क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ'' इस पूर्ण नाम में आये हुए **छद्मस्थ** शब्द को अंत दीपक समझना चाहिए। प्रथम गुणस्थान से लगाकर इस बारहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव छद्मस्थ ही हैं। छद्मस्थ शब्द का अंतदीपकपना निम्नानुसार स्पष्ट होता है। मिथ्यात्व छद्मस्थ, सासादन-सम्यक्त्व छद्मस्थ, मिश्र छद्मस्थ, अविरतसम्यक्त्व छद्मस्थ, संयमासंयम छद्मस्थ। इस तरह बारहवें गुणस्थान पर्यंत लगाते ही सब समझ में आ जाता है।

७. यहाँ बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में मुनिराज चारित्रमोहनीय से भी रहित होते हैं; अतः इनको मोहमुक्त कहना युक्ति तथा शास्त्र-सम्मत भी है।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १९० से १९१)

सामान्य से क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ जीव हैं।।२०।।

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है, उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराग होते हैं, उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण में रहते हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस सूत्र में आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानों के सावरणपने का सूचक समझना चाहिये।

३१. शंका – क्षीणकषाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकार का भी व्यभिचार नहीं आता, इसलिये सूत्र में वीतराग पद का ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकषाय की निवृत्ति करना यही इस सूत्र में वीतराग पद के ग्रहण करने का फल है। अर्थात् इस गुणस्थान में नाम, स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकषाय का ग्रहण नहीं है; किन्तु भावरूप क्षीणकषायों का ही ग्रहण है, इस बात के प्रगट करने के लिये सूत्र में वीतराग पद दिया है।

३२. शंका – पाँच प्रकार के भावों में से किस भाव से इस गुणस्थान की उत्पत्ति होती है ?

समाधान – मोहनीय कर्म के दो भेद हैं – द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थान के पहले दोनों प्रकार के मोहनीय कर्मों का निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है, अतएव इस गुणस्थान की उत्पत्ति क्षायिक गुण से है।

१३

सयोगकेवली गुणस्थान

तेरहवें गुणस्थान का नाम सयोगकेवली है। यह क्षपकश्रेणी के चारों गुणस्थानों के बाद प्राप्त होनेवाला प्रथम गुणस्थान है। क्षीणमोह गुणस्थान में जो सुख पूर्णरूप से परिणमित हुआ था, अब वही सुख यहाँ केवलज्ञान के सद्भाव से अनंत सुखरूप से कहा गया है।

जीव की सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्ति का पूर्ण विकास हो गया है। **शरीर सहित होने पर भी शरीर से निर्लेपता व निरपेक्षता का साक्षात् जीवन अर्थात् सयोग केवली अवस्था है।** वीतरागता का फल ही सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शित्व है, अब वह व्यक्त हो गया है।

अरहंत अवस्था में निम्नोक्त अठारह दोष नष्ट हो गये हैं –

भूख, प्यास, बीमारी, बुढ़ापा, जन्म, मरण, भय, राग, द्वेष।
गर्व, मोह, चिंता, मद, अचरज, निद्रा, अरति, खेद अरु स्वेद।।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २ पर भी अरहंतों का स्वरूप अत्यंत मार्मिक रूप से स्पष्ट किया है। आंशिक कथन निम्नप्रकार है –

''देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं। तथा आयुध, अंबरादिक व अंगविकारादिक जो काम क्रोध आदि निंद्यभावों के चिन्ह, उनसे रहित जिनका परम औदारिक शरीर हुआ है। जिनके वचनों से लोक में धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है।

जिनके लौकिक जीवों के प्रभुत्व मानने के कारणभूत अनेक अतिशय और नाना प्रकार के वैभव का संयुक्तपना पाया जाता है।

जिनका अपने हित के अर्थ गणधर – इंद्रादिक उत्तम जीव सेवन करते हैं। – ऐसे सर्वप्रकार से पूजने योग्य श्री अरहंत देव हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।''

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६३-६४ में सयोगकेवली गुणस्थान की **परिभाषा** निम्नानुसार दी है -

केवलणाण दिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणिय-परमप्पववएसो ।।
असहायणाणदंसणसहिओ, इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।

घाति चतुष्क के क्षय के काल में औदयिक अज्ञान नाशक तथा असहाय केवलज्ञानादि नव लब्धिसहित होने पर परमात्म संज्ञा को प्राप्त जीव की योगसहित वीतराग दशा को सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

घाति चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मों का क्षय होते ही उसीसमय केवलज्ञानादि नव लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। ये दोनों कार्य एक ही समय में होते हैं। इस ही एक समय के घटना/कार्य को ''चार घाति कर्मों के क्षय के निमित्त से केवलज्ञानादि होते हैं'' - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक का कथन शास्त्र में मिलता है।

इस विषय को आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के १०वें अध्याय में प्रथम सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है -

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्।

कर्मों के नाश होने से केवलज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं होती। कोई स्वयं मरनेवाला अन्य को कैसे जन्म दे सकता है ? कर्मों का नाश केवलज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। केवलज्ञान की पर्याय तो जीवद्रव्य के ज्ञान गुण में से प्रगट होती है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही मोहकर्म का संपूर्ण क्षय हो गया है। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणादि तीनों घाति कर्मों का नाश/क्षय भी हो गया है। इनके अभावरूप निमित्त को मुख्य करके निमित्त का ज्ञान कराने के लिए मोह एवं ज्ञानावरणादि तीनों घाति कर्मों के क्षय से केवलज्ञान हुआ; ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध देखकर व्यवहारनय से, उपचार से घाति कर्मों के नाश से केवलज्ञान होता है; ऐसा आचार्यश्री कथन करते हैं।

अज्ञान दो प्रकार का होता है -

१. मिथ्या श्रद्धा के निमित्त से संशयादि विपरीतता लिये हुए जो व्यक्त ज्ञान होता है, उसे **अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं।** यह अज्ञान प्रथम गुणस्थान से लेकर दूसरे सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान पर्यंत होता है। **(तीसरे गुणस्थान में श्रद्धा के अनुसार ज्ञान भी मिश्र/सम्यग्मिथ्यारूप रहता है।)**

२. ज्ञानावरण कर्म के उदय से जो ज्ञान का पर्याय में अभाव रहता है, उसे भी अज्ञान कहते हैं। इस दूसरे प्रकार के अज्ञान का नाम औदयिक अज्ञान है। यह पहले गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत रहता है। औदयिक अज्ञान का नाश केवलज्ञान होने पर ही होता है। अतः परिभाषा में औदयिक अज्ञान नाशक विशेषण केवलज्ञान के लिये दिया है।

केवलज्ञान का दूसरा विशेषण ''असहाय'' दिया है। असहाय शब्द के दो अर्थ होते हैं।

प्रथम अर्थ - दीन, हीन, जिसका कोई मदद करनेवाला या सहायक नहीं है; तथापि जो दूसरों से सहयोग अर्थात् मदद की अतिशय हार्दिक परिणामों से अपेक्षा रखता है; उसे असहाय कहते हैं। यह दीनता का द्योतक है।

दूसरा अर्थ - जिसे किसी से भी मदद या सहाय की आवश्यकता ही नहीं है; जो स्वयं अपने सब कार्यों के लिये समर्थ, स्वसहाय, स्वाधीन तथा परिपूर्ण है, उसे भी असहाय कहते हैं। यह स्वयंपूर्णता का द्योतक है।

प्रस्तुत प्रकरण में केवलज्ञान के लिये दूसरा अर्थ ही लागू होता है, पहला नहीं।

केवलज्ञान के लिये न शरीर की आवश्यकता है, न इंद्रियों की और न बाह्य प्रकाश आदि निमित्तों की। इतना ही नहीं केवलज्ञान को बाह्य ज्ञेय (ज्ञान जिस वस्तु को जानता है, उसे ज्ञेय कहते हैं) वस्तुओं की साक्षात् उपस्थिति भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान तो जो ज्ञेय पदार्थ वर्तमान में छद्मस्थ को साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं, (जो ज्ञेय सूक्ष्म, अंतरित और दूर हैं) ऐसे

अनादि भूतकालीन सर्व पदार्थों को और भविष्यकालीन अनंतानंत सर्व पदार्थों को भी अर्थात् सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् एक ही समय में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट जानता है।

अनंत ज्ञान, दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व एवं चारित्र को **अनंतचतुष्टय** कहते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य को **पाँचलब्धि** कहते हैं। इस तरह चतुष्टय और पंचलब्धि मिलकर क्षायिक **नवलब्धि** हो जाते हैं। इन केवलज्ञानादि नवलब्धि सहित तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली होते हैं। इन्हें ही सकल परमात्मा कहते हैं। इन ही अरहंत तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिमायें जिनमंदिर में विराजमान की जाती हैं; जो सबको पूज्य होती हैं।

नाम अपेक्षा विचार –

सयोगकेवली परमात्मा के ही अरिहंत, अरहंत, अरुहंत, केवली, परमात्मा, सकल परमात्मा, सयोगीजिन, परमज्योति, सर्वज्ञ, जिनेन्द्रदेव, जीवनमुक्त, आप्त आदि एक हजार आठ नाम कहे गये हैं।

१. मिथ्यात्व और क्रोधादि विभाव भावरूपी शत्रुओं को **(अरि = शत्रु, हंत = नष्ट करनेवाले)** जो नष्ट करते हैं, उन्हें अरिहंत कहते हैं।

२. **जो सर्व जीवों से पूजनीय एवं आदर्श हैं, उन्हें अरहंत कहते हैं।** आचार्य कुंदकुंद ने अपने ग्रंथों में मुख्य रीति से अरहंत शब्द का प्रयोग किया है।

३. **जिनका पुनः जन्मरूप से उत्पन्न होना नष्ट हो गया है, उन्हें अरुहंत कहते हैं।**

४. जो जिनेन्द्र भगवान योग सहित हैं; उन्हें सयोगीजिन कहते हैं।

५. जो परमात्मा होने पर भी कल अर्थात् शरीर सहित हैं, उन्हें सकल परमात्मा कहते हैं।

६. जो जीव केवलज्ञान सहित हैं, उन्हें केवली कहते हैं।

७. केवलज्ञान की मुख्यता से ही अरहंत को परमज्योति आदि कहते हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; तथापि सयोगकेवली

गुणस्थानवर्ती परमात्मा के केवलज्ञान के कारण क्षायिक सम्यक्त्व को ही परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं।

चारित्र अपेक्षा विचार – परम यथाख्यात चारित्र। क्षीणमोह गुणस्थान में श्रद्धा तथा चारित्र गुण का पूर्ण निर्मल परिणमन होने के कारण यथाख्यात चारित्र हुआ था। अब तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान के निमित्त से उसी चारित्र को **परम यथाख्यात** कहते हैं।

काल अपेक्षा विचार –

जघन्यकाल – अंतर्मुहूर्त। तीर्थंकर सयोगकेवली को छोड़कर अन्य परमगुरु कम से कम अपना जीवन अंतर्मुहूर्त पर्यंत यहाँ सयोगकेवली अवस्था में व्यतीत करते हैं। कोई भी सयोगकेवली जिनेन्द्र अंतर्मुहूर्त से कम कालावधि में तेरहवें गुणस्थान को छोड़कर चौदहवें गुणस्थान में गमन नहीं कर सकते।

इन अरहंत सयोगी परमात्मा का दिव्यध्वनि से उपदेश हो या न हो; विहार हो या न हो अथवा अंतःकृतकेवली हो; सभी सयोगकेवली परमात्माओं का तेरहवें गुणस्थान का जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त ही है।

तीर्थंकर सयोगकेवली परमात्मा का जघन्यकाल वर्ष पृथक्त्व अर्थात् ३ वर्ष से लेकर ९ वर्ष के अंदर ही होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थंकर सयोगकेवली परमात्मा का जघन्य विहार काल भी वर्ष पृथक्त्व ही होता है।

उत्कृष्टकाल – गर्भकाल सहित आठ वर्ष तथा आठ अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि काल। इतना दीर्घ काल तेरहवें गुणस्थान का कैसे होता है, इसका स्पष्टीकरण –

जो एक पूर्व कोटि वर्ष की उत्कृष्ट आयु के धारक कर्मभूमिज कोई श्रेष्ठ पुरुष गर्भकाल सहित आठ वर्ष के होते ही दीक्षा लेकर केवल आठ अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत मुनिजीवन में आत्मसाधना करके जो सयोगकेवली गुणस्थान को प्राप्त हुए हैं; वे जिनेन्द्र परमात्मा अपनी मनुष्यायु के अंत पर्यंत दिव्यध्वनि से उपदेश करते हुए विहार करते हैं।

यह कथन कर्मभूमि के मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति की मुख्यता से किया है।

मध्यमकाल – एक अंतर्मुहूर्त और आठ वर्ष तथा आठ अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि काल के बीच जितने भी भेद होते हैं; वे सर्व मध्यम काल के प्रकार जानना चाहिए। जैसे दो, तीन, चार आदि अंतर्मुहूर्त अथवा एक, दो, तीन आदि दिन या महीना या वर्ष यथासंभव लगा लेना चाहिए।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – सकल परमात्मा जिनेन्द्र, तेरहवें गुणस्थान से नियमपूर्वक चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में ही गमन करते हैं।

आगमन – मात्र क्षीणमोह गुणस्थान से ही सयोगकेवली गुणस्थान में आगमन होता है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. यदि सयोगकेवली परमात्मा को तीर्थंकर नामकर्म का उदय हो तो उनके जन्म के दस, तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के उदय के निमित्त से समवसरण की रचना काल में केवलज्ञान के दश अतिशय, देवकृत चौदह अतिशय, आठ प्रातिहार्यादि सर्व ४२ अलौकिक वैभव/अतिशयों का सहज संयोग होता है।

२. सभी सयोगकेवली परमात्माओं को क्षायिक ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्राप्ति नियम से होती है।

३. सामान्य मनुष्यों की तरह सयोगकेवली के कवलाहार नहीं होता; परन्तु नोकर्माहार होता है; जिससे परमौदारिक शरीर की स्थिति दीर्घकालपर्यंत एक-सी बनी रहती है। रोग तथा जन्म-मरणादि अठरा दोष भी नहीं होते एवं असाता जन्य बाधायें नहीं होती।

४. सयोगकेवली परमात्मा कई प्रकार के होते हैं। पंचकल्याणकवाले तीर्थंकर केवली, तीन कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली, दो कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली, मूककेवली, अंतःकृत केवली, उपसर्ग केवली, सामान्य केवली, समुद्घात केवली, सातिशय केवली, अनुबद्ध केवली, सतत केवली आदि।

मूक केवली – जिन सयोगकेवलियों को वाणी का योग नहीं अर्थात् उनकी दिव्यध्वनि नहीं होती, उन्हें मूक केवली कहते हैं।

अंतःकृत केवली – ध्यानारूढ़ अवस्था में विराजमान जिन मुनिराजों को पूर्वभव या इस भव का वैरी देव अथवा विद्याधरादि उठाकर आकाश में ले जाते हैं और ऊपर से समुद्र या अग्नि में अथवा पहाड़ पर फेंक देते हैं। ऐसे अत्यंत प्रतिकूल अवसरों पर आकाश से नीचे समुद्र या अग्नि में गिरने से पहले अथवा पहाड़ से टकराने के पहले ही शुक्लध्यान से श्रेणी मांडकर आकाश में ही सयोगकेवली होकर अंतर्मुहूर्त में सिद्धपद प्राप्त कर लेते हैं; उन्हें अंतःकृत केवली कहते हैं।

जिन्होंने संसार का अंत कर दिया है और जो आठ कर्मों का अंत अर्थात् विनाश करते हैं, वे अंतःकृत केवली कहलाते हैं। उसका यह अर्थ है कि जो अंतःकृत होकर सिद्ध होते हैं, निष्ठित होते हैं व अपने स्वरूप से निष्पन्न होते हैं; वे अंतःकृतकेवली है।

उपसर्ग केवली – मुनि-अवस्था में उपसर्ग हो, उस उपसर्ग अवस्था का नाश होते ही जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है; उन्हें उपसर्ग केवली कहते हैं। जैसे मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया था; तत्पश्चात् उन्हें केवलज्ञान हो गया था।

समुद्घातगत केवली – जिन सयोगी जिनेन्द्र परमात्मा के आयु कर्म की स्थिति कम हो और वेदनीयादि तीन अघाति कर्मों की स्थिति अधिक हो तो उन्हें आयुकर्म की स्थिति के बराबर अन्य तीन कर्मों की स्थिति करने को समुद्घात कहते हैं; ऐसे समुद्घात को करनेवाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र को समुद्घातगत केवली कहते हैं।

पाँच कल्याणकवाले तीर्थंकर – गर्भ में आने के ६ माह पूर्व ही रत्नों की वर्षा होना आदि अतिशय होते हैं। फिर गर्भ कल्याणक आदि पाँच कल्याणक होते हैं। पाँच कल्याणक का कथन भरत-ऐरावत क्षेत्र की मुख्यता से है और तीन एवं दो कल्याणकवाले तीर्थंकर विदेहक्षेत्र में ही होते हैं; इतना विशेष समझना।

तीन कल्याणकवाले तीर्थंकर – जिन चरमशरीरी भव्य आत्माओं ने अपने वर्तमान मनुष्य भव के अविरतसम्यक्त्व या देशविरत गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया है, उनके दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक – ऐसे तीन ही कल्याणक होते हैं।

दो कल्याणकवाले तीर्थंकर – जिन चरमशरीरी भव्य आत्माओं ने वर्तमान प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है; उनके मात्र केवलज्ञान और निर्वाण/मोक्ष कल्याणक ऐसे दो ही कल्याणक होते हैं।

५. मात्र सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती अरहंतों का ही इच्छारहित उपदेश होता है। तदर्थ तीर्थंकर परमात्मा तीर्थंकर प्रकृति कर्म के उदय से समवसरण की रचना होती है। सामान्य केवलियों के लिए भी गंधकुटी की रचना भी सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा होती है।

सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो मुनिराज ध्यानारूढ़ रहते हैं, अतः उनका उपदेश नहीं होता। **छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज, पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक तथा अव्रती श्रावक का उपदेश इच्छा पूर्वक ही होता है।**

जिनेन्द्र भगवान की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि सर्वांग से तीनों संधिकालों में और मध्यरात्रि में भी छह-छह घड़ी तक (९ घंटे ३६ मिनिट पर्यंत) खिरती है और एक योजन पर्यंत सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त विशेष पुण्यात्मा गणधरदेव, इंद्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुसार अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी खिरती है।

एक योजन के भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुये अठारह-महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त ऐसे तिर्यंच, मनुष्य तथा देव की भाषारूप में परिणत होनेवाली तथा न्यूनता तथा अधिकता से रहित, मधुर, मनोहर, गंभीर, विशद, ऐसी भाषा को प्राप्त **(जैनेन्द्र शब्दकोष भाग दूसरा पृष्ठ ४३१, ४३२)** दिव्यध्वनि होती है।''

तिलोयपण्णत्ती भाग २, गाथा ७२४, ७२५ के उल्लेखानुसार अवसर्पिणीकाल में होनेवाले २४ तीर्थंकरों के समवसरणों का प्रमाण

क्रमशः बारह योजन से प्रारंभ होता है; घटता हुआ अंतिम तीर्थंकर का समवसरण एक योजन का रह जाता है।

गाथा ७२६ में उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकरों के समवसरणों का प्रमाण उल्टे क्रम से चलता है अर्थात् प्रथम तीर्थंकर का एक योजन से प्रारंभ होता है और बढ़ता हुआ अंतिम तीर्थंकर का बारह योजन प्रमाण होता है।

६. यहाँ इंद्रियादि परनिमित्त निरपेक्ष/निःसहाय **(स्वयं परिपूर्ण समर्थ)** त्रिकालवर्ती लोकालोक को युगपत जानने-देखनेवाला केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का परिणमन युगपत होता है। **(देखिये – नियमसार गाथा १६०)**

छद्मस्थ अवस्था में जैसे जीव को प्रथम सामान्य अवलोकनरूप दर्शन होता है; पश्चात् विशेष अवलोकनरूप ज्ञान होता है; वैसे ही केवलदर्शन और केवलज्ञान के संबंध में भी क्रमिक दर्शन तथा ज्ञान की प्रवृत्ति को मानेंगे तो सयोगकेवली जिनेन्द्र सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी सिद्ध नहीं होंगे।

१०९. प्रश्न : सयोगी जिनेन्द्र सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी कैसे सिद्ध नहीं होंगे ?

उत्तर : जिससमय केवलदर्शन होगा, उसीसमय केवलज्ञान नहीं होगा तो जिनेन्द्र सर्वज्ञ कैसे सिद्ध होंगे ? अल्पज्ञ ही सिद्ध होंगे। अतः सयोगकेवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान – इन दोनों के उपयोगों की प्रवृत्ति युगपत ही होती है। ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण दोनों कर्मों का क्षय/अभाव भी एक समय में ही होता है।

७. इस सयोगकेवली गुणस्थान से इन्हीं को परमगुरु तथा परमात्मा संज्ञा प्राप्त होती है।

८. सम्यक्त्व के दस भेदों में से यहाँ सयोगकेवली का सम्यक्त्व परमावगाढ़ कहा जाता है। अब तक साधक मुनिराज अल्पज्ञ थे,

यहाँ सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये हैं। यही कारण सम्यक्त्व के परमावगाढ़पने में है।

९. यहाँ 'सयोग' शब्द अंत दीपक है। अतः प्रथम गुणस्थान से लेकर इस तेरहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव सयोगी/योगसहित ही हैं। इसे निम्नानुसार स्पष्ट समझ सकते हैं – सयोग मिथ्यात्व, सयोग सासादन-सम्यक्त्व, सयोग मिश्र आदि।

१०. ''केवली'' शब्द आदि दीपक है। तेरहवें गुणस्थान में व्यक्त हुआ केवलज्ञान अर्थात् केवलीपना वह आगे के चौदहवें गुणस्थान में और सिद्धालय में भी अनंत काल पर्यंत सतत ध्रुव और अचलरूप से रहनेवाला है। जैसे – अयोगकेवली, सिद्धकेवली।

११. यहाँ चारों घाति कर्मों का अभाव हो जाने से सयोगकेवली अरहंत परमात्मा को **जीवन मुक्त** भी कहते हैं। अभी चारों अघाति कर्मों की सत्ता और उदय होने से एवं असद्धित्व भाव के कारण मुक्तावस्था नहीं हुई है।

१२. भव्य जीवों के भाग्यवश ही भगवान का विहार होता है। केवली भगवान के विहार के व्यवस्थापक कोई इंद्रादिक नहीं हैं। जिन जीवों की मोक्षमार्ग प्राप्त करने की पात्रता पक गयी है, उन्हें सहज ही सर्वोत्तम निमित्त मिलते ही हैं। अतः पात्र जीवों की ओर भगवान का विहार एवं उनके लिए उपदेश स्वयं होता है। पण्डित दौलतरामजी ने कहा भी है – **भवि भागन वच जोगे वशाय तुम ध्वनि......।**

१३. पाँच इन्द्रियप्राणों का व मनोबल का विनाश तो क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में हो जाता है। वचनबल और श्वासोच्छवास प्राण का विनाश सयोगकेवली के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है। कायबल का विनाश सयोगकेवली के अन्त में होता है एवं आयुप्राण का विनाश अयोगकेवली गुणस्थान के अन्त में होता है।

तेरहवें के अन्त में अर्थात् चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही आत्मा के सर्व प्रदेश स्थिर अर्थात् अकम्प होने से शरीर से किंचित् न्यून आकारवाले हो जाते हैं। सिद्ध अवस्थायोग्य आत्म-प्रदेशों का आकार नारियल में सूखे गोले के समान किंचित् न्यून हो जाता है।

११०. प्रश्न : सयोगकेवली परमात्मा के कितने और कौनसे कर्मों का नाश हो गया है ?

उत्तर : तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत परमात्मा की अवस्था में नवीन एक भी कर्म प्रकृति का नाश नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण-ज्ञानावरणादि चारों घाति कर्मों की कुल मिलाकर संख्या सैंतालीस है (ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, मोहनीय की २८ और अंतराय की ५) – इनका नाश तेरहवें गुणस्थान के पहले यथास्थान हो चुका है।

अघाति कर्मों में से निम्नांकित सोलह प्रकृतियाँ भी यहाँ नहीं हैं – (१) नरकायु (२) तिर्यंचायु (३) देवायु – इन तीनों आयु कर्म का यहाँ अस्तित्व ही नहीं पाया जाता। **नामकर्म की –** (१) नरकगति (२) नरकगत्यानुपूर्वी (३) तिर्यंचगति (४) तिर्यंचगत्यानुपूर्वी (५) द्विइन्द्रिय (६) त्रिइन्द्रिय (७) चतुरिन्द्रिय (८) उद्योत (९) आतप (१०) एकेंद्रिय (११) साधारण (१२) सूक्ष्म और (१३) स्थावर। **आयुकर्म की** तीन और नामकर्म की तेरह मिलकर सोलह प्रकृतियाँ, **घातिकर्म की** ४७ + अघाति कर्म १६ = ६३.

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १९१ से १९२)

सामान्य से सयोगकेवली जीव हैं ।।२१।।

केवल पद से यहाँ पर केवलज्ञान का ग्रहण किया है।

३३. शंका – नाम के एकदेश के कथन करने से संपूर्ण नाम के द्वारा कहे जानेवाले अर्थ का बोध कैसे संभव है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि बलदेव शब्द के वाच्यभूत अर्थ का, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्द से भी बोध होना पाया जाता है। इसतरह प्रतीति-सिद्ध बात में, 'यह नहीं बन सकता है' इसप्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायेगी।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा नहीं होती है, उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं। वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो योग के साथ रहते हैं, उन्हें सयोग कहते हैं। इसतरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं।

इस सूत्र में जो सयोग पद का ग्रहण किया है वह अन्तदीपक होने से नीचे के संपूर्ण गुणस्थानों के सयोगपने का प्रतिपादक है। चारों घातिया कर्मों के क्षय कर देने से, वेदनीय कर्म के नि:शक्त कर देने से अथवा आठों ही कर्मों के अवयवरूप साठ उत्तर-कर्म-प्रकृतियों के नष्ट कर देने से इस गुणस्थान में क्षायिकभाव होता है।

विशेषार्थ – यद्यपि अरहंत परमेष्ठी के चारों घातिया कर्मों की सैंतालीस, नाम कर्म की तेरह और आयु कर्म की तीन, इसतरह त्रेसठ प्रकृतियों का अभाव होता है; फिर भी यहाँ साठ कर्मप्रकृतियों का अभाव बतलाया है। इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयु की तीन प्रकृतियों के नाश के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

मुक्ति को प्राप्त होनेवाले जीव के एक मनुष्यायु को छोड़कर अन्य आयु की सत्ता नहीं पाई जाती है; इसलिये यहाँ पर आयु कर्म की तीन प्रकृतियों की अविवक्षा करके साठ प्रकृतियों का नाश बतलाया गया है।

❁

१४

अयोगकेवली गुणस्थान

अयोगकेवली यह अंतिम गुणस्थान है। केवलज्ञान के साथ रहनेवाला यह दूसरा गुणस्थान है। क्षपकश्रेणी के चारों गुणस्थानों के बाद प्राप्त होनेवाला यह दूसरा गुणस्थान है। वीतरागी चारों गुणस्थानों में से यह अन्तिम गुणस्थान है। केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय सहित अरहंत परमात्मा का भी यह दूसरा गुणस्थान है। योगरहित अर्थात् अयोगरूप यह एक ही गुणस्थान है। तेरहवें गुणस्थान के समान यहाँ भी ज्ञान, सुखादि अनंतरूप हैं। अयोगकेवली गुणस्थान भी सकल परमात्मा का ही है।

योगों के नष्ट होते ही सयोगकेवली परमात्मा ही अयोगकेवली कहलाने लगते हैं। शरीर में रहते हुये भी योग का निरोध एवं श्वासोच्छवास बंद होने से मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाला आत्मप्रदेशों का कंपन रुक गया है। अतः आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध का अभाव हो गया है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६५ में अयोगकेवली गुणस्थान की **परिभाषा** निम्नानुसार दी है –

सीलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि॥

सम्पूर्ण शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व आस्रव निरोधक, कर्म बंध रहित जीव की योगरहित वीतराग सर्वज्ञ दशा को अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

नाम अपेक्षा विचार –

सयोगी जिन इस एक नाम को छोड़कर पूर्वोक्त तेरहवें गुणस्थान में कहे हुये सर्व नामों का यहाँ भी व्यवहार होता है। जैसे – अरिहंत, अरहंत, अरुहंत, केवली, परमात्मा, सकल परमात्मा, परमज्योति, निष्कम्प, परमात्मा आदि।

१११. प्रश्न : अयोगकेवली को सकलपरमात्मा कहने में दोष आता है क्या ?

उत्तर : कुछ दोष नहीं आता; क्योंकि अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती अरहंत परमात्मा प्रत्यक्ष में शरीरसहित हैं; अतः सकल परमात्मा ही हैं। 'कल' शब्द का अर्थ शरीर है। स = सहित, स + कल = सकल, सकल = शरीर सहित।

इस गुणस्थान में चारों अघाति कर्मों में से ८५ कर्मों की सत्ता है।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

क्षायिक सम्यक्त्व ही यहाँ भी परमावगाढ़ सम्यक्त्वरूप कहलाता है। तेरहवें गुणस्थानवत् यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

चारित्र अपेक्षा विचार –

परमयथाख्यात चारित्र, तेरहवें गुणस्थानवत्।

काल अपेक्षा विचार –

पाँच ह्रस्व स्वरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) का उच्चारण काल पर्यंत अर्थात् अंतर्मुहूर्त काल है। यहाँ काल के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम भेद नहीं हैं।

चौदह गुणस्थानों में से यह अयोगकेवली गुणस्थान ही एकमेव ऐसा गुणस्थान है, जो अपने अंतर्मुहूर्त काल का यथार्थ ज्ञान कराने में पूर्ण समर्थ है। अन्य गुणस्थानों के अंतर्मुहूर्त काल के लिए हमें केवलज्ञानगम्य यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल ऐसा कहना अनिवार्य हो गया है; क्योंकि अंतर्मुहूर्त के यथार्थ निर्णय के लिए चौदहवें गुणस्थान के समान कोई मापदण्ड हमारे पास नहीं है।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान से सिद्धदशा में ही ऊर्ध्वगमन होता है; क्योंकि अब किसी भी प्रकार कमी नहीं रही, जिसकी पूर्ति की जाय।

आगमन – इस चौदहवें गुणस्थान में आगमन मात्र सयोगकेवली गुणस्थान से ही होता है; अन्य किसी भी गुणस्थान से नहीं।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में **बहत्तर प्रकृतियों** की निर्जरा अर्थात् क्षय हो जाता है और अंतिम समय में शेष **तेरह प्रकृतियों** का भी नाश हो जाता है। इन कर्मों के नाश के समय ही संसार अवस्था का व्यय और सादि अनंत काल के लिए सिद्ध दशा का उत्पाद भी हो जाता है।

२. योग के अभाव के कारण अयोगकेवली को ईर्यापथास्रव भी नहीं होता, जो ग्यारहवें-बारहवें तथा तेरहवें में भी होता था।

३. मुनिराज के चौरासी लाख उत्तर गुणों की तथा शील सम्बन्धी अठारह हजार भेदों की पूर्णता यहाँ अयोगकेवली अवस्था में होती है।

११२. प्रश्न – श्रावक के भी उत्तरगुण और शील होते हैं क्या ?

उत्तर :– हाँ, जरूर होते हैं। अहिंसादि पाँच अणुव्रत, दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत – कुल मिलाकर ये बारह व्रत होते हैं; उन्हें ही श्रावक के उत्तर गुण कहते हैं। गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत को सप्तशील भी कहते हैं।

४. पूर्ण संवर तथा पूर्ण निर्जरा भी अयोगकेवली को ही होती है।

५. यहाँ प्रयुक्त अयोग शब्द आदि दीपक है। स्वयं अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती अरहंत परमात्मा तो अयोगी हैं ही और यहाँ से उपरिम सिद्ध दशा अयोगरूप और अशरीरी ही है।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ १९३ से २००)

अब आचार्य पुष्पदंत भट्टारक अन्तिम गुणस्थान के स्वरूप के निरूपण करने के लिये, अर्थरूप से अरहंत परमेष्ठी के मुख से निकले हुए, गणधर देव के द्वारा गूंथे गये शब्द-रचनावाले, प्रवाहरूप से कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष ऐसे आगे के सूत्र को कहते हैं –

सामान्य से अयोगकेवली जीव हैं ।।२०।।

जिसके योग विद्यमान नहीं है, उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है, उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली होता है, उसे अयोगकेवली कहते हैं।

३४. शंका – पूर्वसूत्र से केवली पद की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र में फिर से केवली पद का ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि समनस्क जीवों के सर्व देश और सर्व काल में मन के निमित्त से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वीकार किया गया है और प्रतीत भी होता है, इसप्रकार के नियम के होने पर, अयोगियों के केवलज्ञान नहीं होता है; क्योंकि यहाँ पर मन नहीं पाया जाता है, इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्य को अयोगियों में केवलज्ञान के अस्तित्व के प्रतिपादन के लिये इस सूत्र में फिर से केवली पद का ग्रहण किया।

३५. शंका – इस सूत्र में केवली इस वचन के ग्रहण करने मात्र से अयोगी-जिन के केवलज्ञान का अस्तित्व कैसे जाना जाता है।

समाधान – यदि यह पूछते हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षु से स्तम्भ आदि के अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय कि चक्षुज्ञान में अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षु द्वारा गृहीत स्तम्भादिक का अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं। तो हम भी कह सकते हैं कि अन्यथा वचन में प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचन के रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी क्यों नही मान लेते हो; क्योंकि दोनों बातें समान हैं।

३६. शंका – वचन की प्रमाणता असिद्ध है; क्योंकि कहीं पर वचन में भी विसंवाद देखा जाता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं कि चक्षु की प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि वचन के समान चक्षु में भी कहीं पर विसंवाद प्रतीत होता है।

३७. शंका – जो चक्षु अविसंवादि होता है, उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान – नहीं; क्योंकि सभी चक्षुओं का सर्व देश और सर्व काल में अविसंवादिपना नहीं पाया जाता है।

३८. शंका – जिस देश और जिस काल में चक्षु के अविसंवाद उपलब्ध होता है, उस देश और काल में उस चक्षु में प्रमाणता रहती है ?

समाधान – यदि किसी देश और किसी काल में अविसंवादी चक्षु के प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषय में सर्व देश और सर्व काल में अविसंवादी ऐसे विवक्षित वचन को प्रमाण क्यों नहीं मानते हो।

३९. शंका – परोक्ष-विषय में कहीं पर विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्व देश और सर्व काल में वचन में प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

समाधान – यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसमें वचन का अपराध नहीं है, किन्तु परोक्ष विषय के स्वरूप को नहीं समझनेवाले पुरुष का ही उसमें अपराध पाया जाता है। कुछ दूसरे के दोष से दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जायेगी।

४०. शंका – परोक्ष-विषय में जो विसंवाद उत्पन्न होता है, इसमें वक्ता का ही दोष है वचन का नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान – नहीं; क्योंकि उसी वचन से पुन: अर्थ के निर्णय में प्रवृत्ति करनेवाले उसी अथवा किसी दूसरे पुरुष के दूसरी बार अर्थ की प्राप्ति बराबर देखी जाती है। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ पर तत्त्व-निर्णय में विसंवाद उत्पन्न होता है, वहाँ पर वक्ता का ही दोष है, वचन का नहीं।

४१. शंका – जिस वचन की विसंवादिता या अविसंवादिता का निर्णय नहीं हुआ, उसकी प्रमाणता का निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जिसकी अविसंवादिता का निश्चय हो गया है ऐसे इस आर्ष के अवयवरूप वचन के विवक्षित आर्ष के अवयवरूप वचन के भी अवयवी की अपेक्षा एकपना बन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचन की सत्यता का ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ – जितने भी आर्ष-वचन हैं वे सब आर्ष के अवयव हैं, इसलिये आर्ष में प्रमाणता होने से उसके अवयवरूप सभी वचनों में प्रमाणता आ जाती है।

४२. शंका – आधुनिक आगम अप्रमाण है; क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसके अर्थ का व्याख्यान किया है ?

समाधान – यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणता को प्राप्त इस युग के आचार्यों के द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है।

४३. शंका – छद्मस्थों के सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि श्रुत के अनुसार व्याख्यान करनेवाले

आचार्यों के प्रमाणता मानने में कोई विरोध नहीं है।

४४. **शंका** – आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरु परंपरा के क्रम से आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान – नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षभूत विषय में तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होने से निश्चय किया जा सकता है और परोक्ष विषय में भी, जिसमें परोक्ष-विषय का वर्णन किया गया है, वह भाग अविसंवादी आगम के दूसरे भागों के साथ आगम की अपेक्षा एकता को प्राप्त होने पर, अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित होने से उसका निश्चय किया जा सकता है अथवा ज्ञान विज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के उपदेश से उसकी प्रमाणता जानना चाहिये और बहुत से साधु इस विषय में विसंवाद नहीं करते हैं; क्योंकि इस तरह का विसंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है। अतएव आगम के अर्थ के व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं, इस बात के निश्चित हो जाने से आर्ष-वचन की प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है। और आर्ष-वचन की प्रमाणता के सिद्ध हो जाने से मन के अभाव में भी केवलज्ञान होता है, यह बात भी सिद्ध हो जाती है।

४५. **शंका** – सयोगकेवली के तो केवलज्ञान मन से उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान – यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि जो ज्ञान आवरण कर्म के क्षय से उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है।

४६. **शंका** – जिसप्रकार मति आदि ज्ञान स्वयं ज्ञान होने से अपनी उत्पत्ति में कारक की अपेक्षा करते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्ति में कारक की अपेक्षा करनी चाहिये ?

समाधान – नहीं; क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान में साधर्म्य नहीं पाया जाता है।

४७. शंका – अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समय में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है ?

समाधान – ऐसी शंका ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञेय पदार्थों के समान परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञान के उन पदार्थों के जानने में कोई

विरोध नहीं आता है।

४८. **शंका** – ज्ञेय की परतन्त्रता से परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञान की फिर से उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय ?

समाधान – नहीं; क्योंकि केवल उपयोग-सामान्य की अपेक्षा केवलज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेष की अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय, मन और आलोक से उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवलज्ञान की इन्द्रियादिक से उत्पत्ति होने में विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा स्वरूप की हानि का प्रसंग आ जायगा।

४९. **शंका** – यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेय को भी मत जाने ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि पदार्थों को जानना उसका स्वभाव है और **वस्तु के स्वभाव दूसरों के प्रश्नों के योग्य नहीं हुआ करते हैं। यदि स्वभाव में भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओं की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।**

५०. **शंका** – पांच प्रकार के भावों में से इस गुणस्थान में कौन सा भाव है ?

समाधान – संपूर्ण घातिया कर्मों के क्षीण हो जाने से और थोड़े ही समय में अघातिया कर्मों के नाश को प्राप्त होनेवाले होने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव है।

मोक्ष

भाई ! उत्तम सुख का भण्डार तो मोक्ष है। अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। पुण्य का पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा हीन है और संसार के विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं, वे तो एकदम पाप हैं, अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। साधक को मोक्षपुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है, वह असद्भूतव्यवहारनय से मोक्ष का साधन है।

अतः श्रावक की भूमिका में वह भी व्यवहारनय के विषय में ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्ष का पुरुषार्थ तो सर्वश्रेष्ठ है; परन्तु उसके अभाव में अर्थात् निचली साधक दशा में अणुव्रत-महाव्रतादिरूप धर्मपुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये।

– श्रावकधर्मप्रकाश, पृष्ठ : १५५

ॐ

गुणस्थानातीत : सिद्ध भगवान

इस दुःखमय संसार अवस्था से कुछ जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर भी अनेक भवों में कठोर और अप्रतिहत साधना करने के बाद ही सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं। अनेक जीव मात्र अनेक वर्षों के साधना से ही सिद्ध हो जाते हैं। विशिष्ट महापुरुष मात्र एक अंतर्मुहूर्त में ही अनंत, ध्रुव, अविचल, पंचमगति को प्राप्त कर लेते हैं।

११३. प्रश्न : हम मात्र अंतर्मुहूर्त में ही सिद्ध होना चाहते हैं। हमें कठोर साधना सुहाती नहीं है और मुक्ति के लिए हम अधिक इंतजार भी नहीं करना चाहते; अतः अति शीघ्र मुक्त होने का सुगम साधन बताइये न!

उत्तर : मोक्ष-प्राप्ति का वास्तविक उपाय तो एक मात्र निज शुद्धात्मस्वभाव का निर्विकल्प रीति से स्वीकार अर्थात् अनुभवन एवं लीनता करना ही है, जिसे हमने गुणस्थान के प्रकरण में अनेक बार कहा है। जिनवाणी माता भी हमें चारों अनुयोगों में यत्र तत्र सर्वत्र इसी विषय को समझा रही है।

भाईसाहब ! आत्मसाधना के परम पवित्र कार्य के आदि, अंत अथवा मध्य में कहीं भी कष्ट, दुःख या परेशानी नहीं है। **सब असह्य परेशानियों को समाप्त करने का एकमात्र सही उपाय पर और परभावों से निरपेक्ष आत्म-साधना ही है।** यही एक सुगम व सहज साधन है।

जब तक निजात्मस्वभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक इस तरह के अनेक विकल्प/प्रश्न होते ही रहेंगे। इन सबके निराकरण के लिए सर्वज्ञ प्रणीत आगम का अध्ययन मनन-चिंतनादि करना और आत्मज्ञ लोगों का सत्समागम करना ही एक शरण है, आधार है और दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सब आत्मसाधक यथायोग्य मात्र एक अंतर्मुहूर्त का आत्म-ध्यान / आत्मलीनता करके ही मुक्ति की प्राप्ति करते हैं, इसमें कुछ मतभेद नहीं है।

यद्यपि इसी विशिष्ट अंतर्मुहूर्त पुरुषार्थ की पूर्णता और उसके फल की प्राप्ति के लिए आदिनाथ जैसे मुनिराज को एक हजार वर्ष लगे, बाहुबली मुनिवर को एक वर्ष लगा और भरत चक्रवर्ती के लिए एक अंतर्मुहूर्त की ही मुनि-अवस्था की साधना पर्याप्त रही; तथापि पुरुषार्थ तो समान ही रहा।

सही देखा जाय तो चक्रवर्ती की अव्रत अवस्था में भी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार यथायोग्य आत्म-साधना का पुरुषार्थ सतत चलता ही रहता है; परन्तु स्थूल/बाह्य दृष्टिधारी जगत उसे स्वीकारता नहीं है।

जब लौकिक जीवन में भी कदाचित् अपनी इच्छा की पूर्ति होती है तो थोड़ीसी आकुलता मिटती है अर्थात् हमें भी तत्काल ही अल्प सुख का निराकुलता का आभास होता है, तब **जहाँ सर्व प्रकार की सर्वथा इच्छाजन्य आकुलता नष्ट हो जाती है, वहाँ अनंत सुख नियम से होगा ही। इसतरह अनुमान से भी सर्व आकुलता रहित सिद्ध जीवों के अनंत सुखी होने का यथार्थ अनुमान ज्ञान हम कर सकते हैं।**

अनंत सर्वज्ञ प्रणीत आगम परंपरा से तो हमें यह मान्य ही है कि सिद्ध अनन्त सुखी हैं।

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६८ में गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान की **परिभाषा** निम्नप्रकार दी है -

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रहित, अनंतसुखामृतस्वादि, परम शांतिमय, मिथ्यादर्शनादि सर्व विकार रहित-निर्विकार, नित्य, सम्यक्त्व आदि आठ प्रधान गुण युक्त, अनंत शुद्ध पर्यायों से सहित, कृतकृत्य, लोकाग्रस्थित, वीतरागी, सर्वज्ञ निकल परमात्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं।

नाम अपेक्षा विचार -

गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान को ही व्यवहारातीत, परमशुद्ध, कार्यपरमात्मा, लोकाग्रवासी, संसारातीत, निरंजन, निराकार, निष्काम, निष्कर्म, साध्यपरमात्मा, परमसुखी, ज्ञानाकारी, ज्ञानशरीरी, चिरवासी, अशरीरी इत्यादि अनेक नाम हैं। इन्हें देहमुक्त भी कहते हैं।

सम्यक्त्व अपेक्षा विचार –

क्षायिक सम्यक्त्व ही परमावगाढ़रूप नाम को प्राप्त होता है। सामान्य दृष्टि से चौथे गुणस्थान में प्रगट होनेवाला सम्यक्त्व और सिद्ध-अवस्था का सम्यक्त्व – दोनों समान हैं, यह कथन सत्य है। इसी विषय को विशेष अपेक्षा सोचते हैं तो अंतर का भी हमें स्वीकार करना चाहिए।

ज्ञानगुण की अनंतता व्यक्त हो गयी, चारित्र भी परिपूर्ण शुद्ध हो गया, ऐसे अनेक सहचर गुणों की विशेषता/पर्यायों से सम्यक्त्व में भी विशेषता कही जाती है; उसे भी मानना ही चाहिए; क्योंकि एक गुण की पर्याय, भेद अपेक्षा अन्य गुण की पर्याय से कथंचित् भिन्न होने पर भी सर्वथा भिन्न तो है नहीं। एक आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत गुण और उनकी अनंत पर्यायें अविरोधरूप से रहते हैं।

सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व और सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व समान है। इस कथन को सुरक्षित रखते हुए यह सर्व समझने की आवश्यकता है।

सम्यक्त्व एवं ज्ञान गुण की पर्यायों में लक्षण की अपेक्षा से कुछ परिवर्तन न होने पर भी दोनों अथवा अनंत गुणों के सहचारीपने के कारण जो परस्पर में आरोपित व्यवहार होता है – उसे भी यथास्थान-यथायोग्य रीति से स्वीकारना उचित है।

जैसे आँखें बंद करके चलना और आँखों से देखते हुए चलना – दोनों अवस्थाओं में चलने का काम तो पैरों से ही होता है; तथापि आँखों से देखते हुए पैरों से चलने में जैसी विशेषता होती है, वैसी विशेषता आँखों के बिना नहीं हो सकती। उसीप्रकार ज्ञानगुण के अनंतरूप परिणमन के साथ सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेषता कही जाती है, उसका भी स्वीकार करना चाहिए।

चारित्र अपेक्षा विचार –

यहाँ पर परम यथाख्यात चारित्र होता है।

बारहवें गुणस्थान में ही चारित्र यथाख्यात हो गया है, तथापि तेरहवें में अनंतज्ञान के कारण उसमें और विशेषता कही गयी है। एक गुण का रूप अन्य गुण के परिणाम में विशिष्ट रीति से रहता ही है। चौदहवें गुणस्थान में योगजन्य आत्मप्रदेशों के कंपनपने का भी अभाव हो जाने से

चारित्र में और विशेषता आना स्वाभाविक ही है। अब यहाँ सिद्ध-अवस्था में तो चार अघाति कर्मों का भी नाश हो गया है; इसलिए चारित्र की निर्मल परिणति में अति विशिष्टता आयी है।

वास्तविक देखा जाय तो अघाति कर्म भी घाति कर्म जैसा ही काम करते हैं।

११४. प्रश्न : अघाति कर्मों को आप घाति कर्म क्यों कहते हो ?

उत्तर : भाईसाहब ! अनंत ज्ञानादि स्वभाव पर्यायों के व्यक्त होने पर भी वे कर्म सिद्ध अवस्था की प्राप्ति में साक्षात् बाधा डालने में निमित्त बन जाते हैं; इस अपेक्षा की मुख्यता से हमने अघाति को भी घाति कहा है।

११५. प्रश्न : जैसे – यथाख्यात चारित्र में तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में परिवर्तन/बदल होता है अर्थात् परम यथाख्यात चारित्र हो जाता है। वैसे ही क्या सुख में भी कुछ बदल होता है ?

उत्तर : हाँ, सुख में भी अवश्य बदल होता है – जो सुख क्षीणकषाय गुणस्थान में मात्र पूर्ण हो गया है, वह सुख सयोग-अयोग गुणस्थान में केवलज्ञान की अपेक्षा अनंत सुख कहा गया है और अब इस सिद्धावस्था में वेदनीय कर्म के अभाव से वही अनंतसुख अव्याबाध अनंतसुख कहा जाने लगा।

सुख तथा ज्ञान विषय का खुलासा चिद्विलास पेज क्रमांक ३७ पर निम्न प्रकार दिया है –

ज्ञान का सुख युगपत होता है और परिणामों का सुख समयमात्र का है अर्थात् समय-समय के परिणाम जब आते हैं, तब सुख व्यक्त होता है। भविष्यकाल के परिणाम ज्ञान में आए; परन्तु व्यक्त हुए नहीं। अतः परिणाम का सुख क्रमवर्ती है और वह तो प्रत्येक समय में नवीन-नवीन होता है। ज्ञानोपयोग युगपत् है, वह उपयोग अपने-अपने लक्षण सहित है। अतः परिणाम का सुख नवीन है और ज्ञान का सुख युगपत है।

११६.प्रश्न : केवलज्ञान होने पर भी सुख के अव्याबाध होने में क्या बाधा है ?

उत्तर : वेदनीय कर्म की सत्ता और उसका उदय – ये ही सुख के अव्याबाध होने में बाधक निमित्त होते हैं।

काल अपेक्षा विचार –

सादि अनंत काल। सिद्ध अवस्था का प्रारम्भ होता है, अतःउनका काल सादि (स + आदि) है और इस अवस्था का कभी नाश होगा ही नहीं, अतः सर्व सिद्ध भगवान नियम से सादि अनंत ही है।

छहढाला शास्त्र के छठवीं ढाल के तेरहवें छन्द में इस विषय को ग्रंथकार ने निम्न शब्दों में कहा है –

रहि हैं अनंतानंत काल, यथा तथा शिव परिणये।

इस तरह सिद्धों का काल सादि अनंत होने से काल के जघन्य और उत्कृष्टपने से संबंध ही नहीं है।

गमनागमन अपेक्षा विचार –

गमन – सिद्ध अवस्था से कहीं ऊपर अन्य उत्कृष्ट अवस्था है नहीं; अतः सिद्ध जीव का अन्यत्र गमन होता नहीं है। इसलिए वे गमन रहित अवस्थित/स्थिर ही रहते हैं।

आगमन – अयोगकेवली गुणस्थान से इस सिद्धावस्था में आगमन हुआ है, अन्य गुणस्थानों से यहाँ आगमन भी संभव नहीं है।

विशेष अपेक्षा विचार –

१. यद्यपि अनंतानंत सिद्ध भगवानों के ज्ञानादि अनंतानंत गुणों की पर्यायों में किंचिदपि अंतर नहीं है; तथापि व्यंजनपर्याय अर्थात् आकार में अन्तर होता है। जीव स्वयं स्वभाव से अमूर्तिक तो है ही। अब सिद्ध दशा में शरीर का अभाव होने से सर्वथा तथा सदा के लिए निराकार एवं अमूर्तिक हो गये हैं।

प्रदेशत्व सामान्यगुण की अपेक्षा से कोई न कोई आकार होना बात अलग है और शरीर के अभाव से निराकार होना अलग है। यह निराकारपना प्रदेशत्व गुण का ही कार्य है; तथापि उसे शरीर के अभाव की मुख्यता करके कहा है। इन दोनों के कथन में विरोध नहीं है। इस निराकारपने के कारण ही जिस आकाश के क्षेत्र में एक सिद्ध भगवान विराजमान हैं, उस ही आकाश के क्षेत्र में अन्य अनंत सिद्ध भगवान भी अपनी स्वतंत्र सत्ता से विराजते हैं। यह कार्य अवगाहनत्व प्रतिजीवी गुण का कार्य है।

२. भूतप्रज्ञापन नैगमनय से क्षेत्र, काल आदि द्वारा भी इन सिद्धों में

भेद किया जाता है। यथा – विदेहक्षेत्र से मुक्त, भरत क्षेत्र से मुक्त, उत्सर्पिणी काल के चतुर्थ काल से मुक्त आदि।

३. सिद्ध दशा का उत्पाद मनुष्य क्षेत्र निवास के अंतिम समय में और मध्य लोक में ही होता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो सिद्धालय तो मनुष्यलोक ही है; तथापि सिद्धदशा उत्पन्न होते ही परमपवित्र सिद्ध जीव का ऋजुगति से आठवीं ईषत्प्राग्भार पृथ्वी पर्यंत गमन होता है और वहीं अनंत काल पर्यंत आठ गुणों से अलंकृत रहते हैं। सिद्ध पूजा में कहा भी है –

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीरजवान, निराबाध गुण सिद्ध के॥

दोहा में आठ गुण अर्थात् पर्यायों का कथन किया है, जो आठों कर्मों के अभाव से व्यक्त हो गये हैं, वे निम्नप्रकार हैं – **(देखिए तत्त्वार्थसार अध्याय ८, श्लोक ३७ से ४०)**

(१) ज्ञानावरण कर्म के अभाव से अनंत ज्ञान,
(२) दर्शनावरण कर्म के अभाव से अनंत दर्शन,
(३) दर्शनमोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक सम्यक्त्व ⎤
चारित्रमोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक चारित्र ⎦ – अनंत सुख
(४) अंतराय कर्म के अभाव से अनंत वीर्य,
(५) वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाधत्व,
(६) आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व,
(७) नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व और
(८) गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व।

सिद्धों का स्थान – ईषत्-प्राग्भार पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय, दिव्य, सुन्दर, दैदीप्यमान और **सीधे रखे हुए अर्ध गोले के सदृश मोक्ष शिला** है। यह अत्यन्त प्रभायुक्त उत्तान छत्राकार और मनुष्य लोक के सदृश (४५ लाख योजन) विस्तारवाली है। इस शिला की मध्य की मोटाई आठ योजन है, आगे अन्त पर्यंत क्रमशः हीन होती गई है।

सिद्धों का मोक्ष-शिला, यह स्थान व्यवहारनय से कहा गया है। निश्चय से प्रत्येक सिद्ध भगवान अपने-अपने आत्मप्रदेशों में अवस्थित हैं।

सिद्धों का सुख – तीनों लोकों में चतुर्निकाय के सर्व देवों, इन्द्रों, अहमिन्द्रों, पदवीधारी चक्रवर्ती आदि सर्व राजाओं, भोगभूमिज युगलों

और सर्व विद्याधरों के भूत, भविष्यत, वर्तमान के सर्व सुख को एकत्र कर लेने पर भी त्रिकालज विषयों से उत्पन्न होनेवाले इस इन्द्रियजन्य समस्त सुखों से (विभिन्न जाति का) अनन्तानन्तगुना शाश्वत एवं अतीन्द्रिय सुख सिद्ध परमेष्ठी एक समय में भोगते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध परमेष्ठी अपनी आत्मा के उपादान से उत्पन्न वृद्धि-ह्रास से रहित, पर द्रव्यों से निरपेक्ष, सर्व सुखों में सर्वोत्कृष्ट, बाधा रहित, उपमा रहित, दुःख रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम सुख से उत्पन्न और समस्त सुखों में जो सारभूत है, ऐसे सुख का उपभोग निरन्तर करते हैं।

सिद्ध भगवान का स्वरूप – तनुवातवलय के अन्त में है मस्तक जिनका ऐसे त्रिजगद्वन्दनीय, अनन्त सुख में निमग्न और नित्य ही अष्ट गुणों से विभूषित सिद्ध परमेष्ठी उस सिद्धशिला से ऊपर अवस्थित हैं। ज्ञान ही है शरीर जिनका ऐसे वे अमूर्तिक सिद्ध कोई कायोत्सर्ग से और कोई पद्मासन से नानाप्रकार के आकारों से अवस्थित हैं। पुरुषाकार मोम रहित सांचे में जिसप्रकार आकाश पुरुषाकार को धारण करके रहता है, उसीप्रकार पूर्व शरीर के आयाम एवं विस्तार में से किंचित् न्यून पुरुषाकार प्रदेशों से युक्त, लोकोत्तमस्वरूप, शरणस्वरूप और समस्त विश्व को मंगलस्वरूप सिद्ध भगवान अन्तरहित अनन्तकाल पर्यन्त अपनी आत्मा में ही रहते हैं। इसप्रकार के सिद्ध भगवान विश्व के समस्त अरहंतों और मुनीश्वरों के द्वारा वन्द्य तथा स्तुत्य हैं, मैं भी उनका ध्यान करता हूँ, वे मुझे अपने गुणों के सदृश अपनी सिद्ध गति के समान अनंत सुखमय सिद्धदशा प्रदान करें।

धवला पुस्तक १ का अंश (पृष्ठ २०१)

सामान्य से सिद्ध जीव हैं ।।२०।।

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य – ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुख को प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूप को प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्व गुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकले हुए बाण के समान विनि:संग हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

❀

पुरुषार्थ की अपूर्वता

प्रश्न : *सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रगति करके शीघ्रातिशीघ्र मुक्त हो, तो कितने समय में और किस प्रकार मुक्त होता है ?*

उत्तर : *(१) मिथ्यात्वपर्याय से कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण संसार में परिभ्रमण कर अन्तिम भव के ग्रहण करने पर मनुष्य भव में उत्पन्न हुआ। (२) पुन: अन्तर्मुहूर्त काल संसार के अवशेष रह जाने पर तीनों ही तीनों करणों को करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। (३) पुन: वेदक सम्यग्दृष्टि हुआ। (४) पुन: अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन करके। (५) उसके बाद दर्शनमोहनीय का क्षय करके (६) पुन: अप्रमत्त संयत हुआ। (७) फिर प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान इन दोनों गुणस्थानों संबंधी सहस्रों परिवर्तनों को करके (८) क्षपकश्रेणी पर चढ़ता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अध:प्रवृत्तकरण विशुद्धि से शुद्ध होकर (९) अपूर्वकरण क्षपक हुआ। (१०) अनिवृत्तिकरण क्षपक हुआ। (११) सूक्ष्मसांपरायिक क्षपक हुआ। (१२) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ हुआ। (१३) सयोगकेवली हुआ। (१४) अयोगकेवली होता हुआ सिद्ध हो गया।*

इसप्रकार मोक्षमार्ग की साधना में शीघ्रता हो तो १४ अंतर्मुहूर्त में मुक्ति हो जाती है और ये सभी अंतर्मुहूर्त भी एक ही बड़े अंतर्मुहूर्त में आ जाते हैं। इससे स्थूलरूप से यह कह सकते हैं कि ***सादि मिथ्यादृष्टि भी मिथ्यात्व छोड़कर अर्थात् सम्यग्दृष्टि होकर एक ही अंतर्मुहूर्त में मुक्त हो सकता है।*** *(यह सादि मिथ्यादृष्टि की चर्चा)* ***(देखिए धवला पुस्तक ४, पृष्ठ ३३६)***

अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्बन्ध में पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में पृष्ठ क्रमांक २६५ पर निम्न शब्दों में कहा है – "देखो, परिणामों की विचित्रता ...! ***कोई नित्य निगोद से निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है।"***

❀

परिशिष्ट –१

जीव ही बलवान है, कर्म नहीं

१. जीव ही स्वयं अंतर्व्यापक होकर संसारयुक्त अथवा निःसंसार अवस्था में आदि-मध्य-अंत में व्याप्त होकर संसारयुक्त अथवा संसाररहित ऐसा अपने को करता हुआ प्रतिभासित होता है। **– समयसार गाथा ८३ की टीका**

२. वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए जीव परिणमन स्वभाववाला स्वयं है। **– समयसार गाथा १२१-१२५ की टीका**

३. तत्त्वदृष्टि से देखा जाय, तो राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यंत प्रगट प्रकाशित होती है। **– समयसार कलश २१९**

४. इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है। वहाँ तो स्वयं जीव ही अपराधी है। **– समयसार कलश २२०**

५. जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व मानते हैं, अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते, वे – जिनकी बुद्धि शुद्ध ज्ञान से रहित अंध है; ऐसे मोहनदी को पार नहीं कर सकते। **– समयसार कलश २२१**

६. आचार्य श्री जयसेन **पुण्णफला अरहंता** गाथा की टीका करते हुए लिखते हैं – **द्रव्य मोह का उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्म भावना के बल से भाव मोहरूप परिणमन नहीं करता तो बंध नहीं होता।** यदि पुनः कर्मोदय मात्र से बंध होता हो तो संसारियों के सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से सर्वदा बंध ही होगा, कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। **– प्रवचनसार गाथा ४५**

७. निगोद पर्याय में भावकलंक की प्रचुरता कही गयी है, कर्मो का बलवानपना तो वहाँ भी नहीं कहा है। **– गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-१९७**

८. प्रत्येक द्रव्य प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अतः कोई

न कोई नई अवस्था होती ही है। उस अवस्था का कर्त्ता द्रव्य की उत्पादरूप भाव शक्ति ही है, कर्म या अन्य द्रव्य नहीं।

९. जीवादि छहों द्रव्यों में द्रव्यत्व नाम का एक सामान्यगुण है। इस द्रव्यत्व गुण से ही प्रत्येक द्रव्य की अवस्थायें निरंतर बदलती रहती हैं। अतः जीव में कुछ विकाररूप व कुछ अविकाररूप अवस्थायें होती हैं, उनका कर्त्ता जीव का द्रव्यत्वगुण ही है, कर्म नहीं।

१०. यदि कर्म स्वयं कर्त्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्यसामग्री को मिलावे, तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए, सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : २५**

११. अब, जो रागादिकभावों का निमित्त कर्म ही को मानकर अपने को रागादिक का अकर्ता मानते हैं, वे कर्त्ता तो आप हैं; परन्तु आपको निरुद्यमी होकर प्रमादी रहना है; इसलिए कर्म ही का दोष ठहराते हैं, सो यह दुःखदायक भ्रम है। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : १९५**

१२. तत्त्वनिर्णय करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं महंत रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव नहीं है। तुझे विषयकषायरूप ही रहना है, इसलिये झूँठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये ?

सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने; तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिये जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने, सो न करे यह असंभव है। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : ३११**

१३. करणानुयोग के शास्त्रों में अनंत सर्वज्ञ भगवंतों के ज्ञानानुसार आचार्यों ने यह सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियम बताया है कि "प्रत्येक छह माह और आठ समय में छह सौ आठ जीव सिद्ध दशा को प्राप्त करते रहते हैं।" वे भी हमें जीव के ही स्वाधीन पुरुषार्थ को दर्शा रहे हैं।

१४. इस विश्व में अनेक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर रहे हैं; पंचम गुणस्थान की प्राप्ति कर रहे हैं; छठवें-सातवें गुणस्थान में झूल रहे हैं तथा परिषह व उपसर्गरूप विपरीत संयोगों में आत्मानंद का अनुभव कर रहे हैं और सिद्ध भगवान भी हो रहे हैं - इन बातों से भी जीव ही पुरुषार्थी अर्थात् बलवान है, यह विषय हमें स्पष्ट हो जाता है।

१५. जड़ द्रव्यकर्म का उदय और जीव के विकारी परिणाम एक साथ व एक ही समय में होते हैं; ऐसा कथन **आचार्यों ने करणानुयोग** में किया है; इसलिए कर्म जीव के विकारी परिणामों का कर्त्ता नहीं है; अतः कर्म बलवान नहीं है; यह विषय अत्यंत स्पष्ट रीति से सिद्ध हो जाता है।

१६. कर्म को बलवान मानोगे तो जीव पराधीन और कर्मों का गुलाम होने से कोई मुनि, व्रती, श्रावक व सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो पायेंगे; क्योंकि अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विशिष्ट कर्मों के उपशमादि हुए बिना कोई जीव मुनि आदि हो ही नहीं सकते। नष्ट तो कमजोर होते हैं, बलवान नहीं। आज तक अनंत जीवों ने स्वयं पुरुषार्थपूर्वक मुक्ति की प्राप्ति की है, उसके फलस्वरूप कर्मों का अकर्मपना स्वयं हो गया है।

१७. पूर्व जीवन में जीव ने विपरीत पुरुषार्थ से तीव्र मोहादि कर्मों का बंध किया था और उस कर्म के उदय-काल में पुरुषार्थहीनता से जीव धर्म प्रगट करने में समर्थ नहीं हो पाता। अत: शास्त्र में ''कर्म बलवान् है'' ऐसा कथन भी व्यवहार नय से आया है, वास्तव में **कर्म बलवान** नहीं - ऐसा समझना चाहिए।

जैसे राम के पराक्रम, शौर्य, धैर्य आदि की प्रसिद्धि को स्पष्ट करने के लिये ही दुष्ट रावण के भी शौर्य का वर्णन जैन शास्त्रों में किया है। वैसे ही जीव के बलवानपने को विशेषरूप से सिद्ध करने के लिये व्यवहार नय से कर्म को बलवान कहा गया है, इसका अर्थ जीव ही बलवान है। कर्मरूप निमित्त का तो मात्र ज्ञान कराया गया है।

१८. यदि कर्म को बलवान मानेंगे तो एक भी जीव सिद्ध भगवान नहीं बन सकेगा; क्योंकि जीव के पुरुषार्थपूर्वक कर्म का अभाव हुए बिना कोई जीव सिद्ध नहीं हो सकता। अनेक जीव कर्मों के अभावपूर्वक सिद्ध भगवान

हो गये हैं। इससे स्वतः सिद्ध हो गया कि जीव ही बलवान है। मानो सिद्ध भगवान सिद्धालय में बैठकर हमें देखकर पुकार-पुकारकर समझा रहे हैं कि कर्मरहित ऐसे हम अनंत सिद्धों को जानकर भी **जीव ही बलवान है, कर्म नहीं** यह छोटी-सी बात तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आ रही है ?

१९. श्री चंद्रप्रभ भगवान की पूजन के छंद में कहा है -

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगति पाई।।

देव-शास्त्र-गुरु पूजन का निम्न छंद भी हमें स्पष्ट समझा रहा है -

जड़कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रांति रही मेरी।
मैं राग-द्वेष किया करता, जब परिणति होती जड़ केरी।।

प्रश्न : शास्त्रों में सर्वत्र सुखी अथवा मुक्त होने के लिए जीवों को ही क्यों समझाया है ? कर्मों को क्यों नहीं समझाया ?

उत्तर : १. जीव अनादि-अनंत है, अत: जीव बड़ा है। कर्म सादि-सान्त है; इसलिए उम्र की अपेक्षा से भी कर्म ही छोटा है। कर्म अधिक से अधिक सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिवाला हो सकता है। **जैसे -** लौकिक जीवन में बड़े और छोटे भाइयों में अथवा विद्यार्थियों में झगड़ा हो जाता है तो बड़े को समझाते हैं। संसार में जीव बड़ा है। अतः जीव को ही समझाया है।

२. समझदार अर्थात् **ज्ञानवान को समझाया जाता है;** अतः शास्त्र में कथन आता है - **कर्म को नष्ट करो** ऐसा जीव को ही समझाया गया है; क्योंकि जीव ज्ञानवान है। कर्म पुद्गल की पर्याय है, पुद्गल जड़ अचेतन है। अतः उसे **''तुम जीव को छोड़ो, उसे मुक्त होने दो, उसे क्यों हैरान कर रहे हो ?''** ऐसा नहीं समझाया है।

२०. छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनिराज को असातावेदनीय, अरति, शोक, भय आदि पापकर्मों का उदय है तथा प्रतिकूल निमित्त भी हैं; परन्तु ये कर्म मुनिराज को दुःखी या खेदखिन्न नहीं करते; क्योंकि मुनिराज ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं तो कर्म बलवान कैसे ? अतः अपनी मान्यता शास्त्रानुकूल बनाने में ही हमारा हित है।

परिशिष्ट –२

गुणस्थानों में विशेष

१. जीवों की संख्या –

१. प्रथम गुणस्थान में जीवों की संख्या अनंतानंत है, यह तिर्यंच गति में स्थावर जीवों की अपेक्षा से है।

२. द्वितीय गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

३. तृतीय गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

४. चतुर्थ गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

५. पंचम गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, यह संख्या संज्ञी तिर्यंच की अपेक्षा कही गयी है।

६. प्रथम गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, यह संख्या अपर्याप्त मनुष्यों की अपेक्षा से है।

७. द्वितीय गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या बावन करोड़ है।

८. तृतीय गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा से संख्या एक सौ चार करोड़ है।

९. चतुर्थ गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा से संख्या सात सौ करोड़ है।

१०. पंचम गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा से संख्या तेरह करोड़ है।

११. छठवें गुणस्थान में जीवों की संख्या पांच करोड़, तेरानवे लाख, अट्ठानवें हजार, दो सौ छह (५,९३,९८,२०६) है।

१२. सातवें गुणस्थान में जीवों की संख्या दो करोड़, छियानवे लाख, निन्यानवे हजार, एक सौ तीन (२,९६,९९,१०३) है।

१३. उपशमश्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें गुणस्थानों में क्रमश: (२९९,२९९,२९९, २९९) जीव हैं। कुल मिलाकर उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों में जीवों की संख्या ११९६ है।

१४. क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें, बारहवें गुणस्थानों में जीवों की संख्या ५९८, ५९८, ५९८, ५९८ प्रमाण है। क्षपकश्रेणी के चारों गुणस्थानों में जीवों की संख्या २३९२ है।

१५. तेरहवें गुणस्थान में जीवों की संख्या आठ लाख, अट्ठानवें हजार, पाँच सौ दो (८,९८,५०२) है।

१६. चौदहवें गुणस्थान में जीवों की संख्या ५९८ है।

१७. छठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक जीवों की संख्या का जोड़ है – ५,९३,९८,२०६ + २,९६,९९,१०३ + १,१९६ + २,३९२ + ८,९८,५०२ + ५९८ = ८,९९,९९,९९७. ये तीन कम नौ करोड़ मुनिराज भावलिंगी ही होते हैं।

१८. द्रव्यलिंगी मुनिराज पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें गुणस्थान में भी होते हैं।

२. गुणस्थानों में बंध संबंधी सामान्य नियम –

१. मिथ्यात्व की प्रधानता से मिथ्यात्व गुणस्थान में १६ **प्रकृतियों** का बंध होता है।

२. अनन्तानुबंधी कषाय के उदय जनित अविरति से २५ **प्रकृतियों** का बंध होता है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा मिश्र गुणस्थान में बंध की व्युच्छित्ति का अभाव होने से किसी नयी प्रकृति का बंध नहीं होता और किसी भी आयुकर्म का बंध भी नहीं होता।

३. अप्रत्याख्यानावरण कषायोदयजनित अविरति से १० **प्रकृतियों** का बंध होता है।

४. प्रत्याख्यानावरण कषाय उदय जनित विरताविरत से ४ **प्रकृतियों** का बंध होता है।

५. संज्वलन के तीव्र उदय जनित प्रमाद से ६ **प्रकृतियों** का बंध होता है।

६. संज्वलन और नोकषाय के मंद उदय से ५९ **प्रकृतियों** का बंध होता है।

७. योग से **एक साता वेदनीय** का बंध होता है। (मोह का सर्वथा उपशम होनेपर या सर्वथा क्षय होने पर)

८. तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग पर्यंत ही होता है।

९. आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का बंध सातवें से आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग पर्यंत ही होता है।

१०. तीसरे गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध नहीं होता है।

गुणस्थानों में बन्धव्युच्छित्ति की सन्दृष्टि

गुणस्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियों की संख्या	व्युच्छिन्न प्रकृतियों के नाम
मिथ्यात्व	१६	मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका-संहनन, एकेंद्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, नरकगति, नरक-गत्यानुपूर्वी और नरकायु।
सासादन	२५	अनंतानुबंधी कषाय ४, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमंडल-स्वाति-कुब्जक और वामनसंस्थान, वज्रनाराच-अर्धनाराच-कीलित-संहनन, अप्रशस्त-विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति-तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु और उद्योत।
मिश्र	००	
असंयत	१०	अप्रत्याख्यानावरण की चार कषाय, वज्रनाराचसंहनन, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु।
देशसंयत	०४	प्रत्याख्यानावरण की चार कषाय।
प्रमत्त	०६	अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश:कीर्ति, अरति और शोक।
अप्रमत्त	०१	देवायु (यहाँ स्वस्थानअप्रमत्त देवायु की बंधनिष्ठापनाव्युच्छित्ति जानना। सातिशयअप्रमत्त में देवायु की व्युच्छित्ति नहीं होती, क्योंकि सातिशयअप्रमत्त में देवायु का बंध ही नहीं होता है।)
अपूर्वकरण (प्रथमभाग)	०२	निद्रा और प्रचला। इस भाग में उपशमश्रेणि चढ़तेसमय मरण नहीं होता।
षष्ठमभाग	३०	तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेंद्रियजाति, तैजस, कार्मण, आहारकशरीर-आहारकअंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियकशरीर, वैक्रियकअंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय।
सप्तमभाग	०४	हास्य, रति, भय और जुगुप्सा।
अनिवृत्तिकरण		
प्रथमभाग	०१	पुरुषवेद
द्वितीयभाग	०१	संज्वलनक्रोध
तृतीयभाग	०१	संज्वलनमान
चतुर्थभाग	०१	संज्वलनमाया
पंचमभाग	०१	संज्वलनलोभ
सूक्ष्मसांपराय	१६	ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अंतराय ५, यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र।
उपशांतमोह	००	
क्षीणमोह	००	
सयोगी	०१	सातावेदनीय।

BgàH$ma gd 120 àH${V`m ~Y`m½`
H$hr JB h BZH$s ~Yì`pÀN>{Îm Cn`o$ H$_
g OmZZm Mm{hE।& (Cn`o$ g_ñV H$WZ
ZmZm Ordm H$s An j m g h।&)

३. गुणस्थानों में मूलकर्मों का बंध –

१. ज्ञानावरण कर्म का बंध पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

२. दर्शनावरण का बंध पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

३. वेदनीय कर्म का बंध पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

४. दर्शनमोहनीय का बंध मात्र प्रथम गुणस्थान में होता है।

- चारित्रमोहनीय का बंध प्रथम से नौवें गुणस्थानपर्यंत होता है।
- दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ कषाय के उदय से सूक्ष्मलोभ परिणाम तो होता है; तथापि चारित्रमोहनीय के किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता।

५. पहले गुणस्थान से सातवाँ स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान पर्यंत आयुकर्म का बंध होता है। इतना विशेष है कि मिश्र गुणस्थान में किसी भी आयुकर्म का बंध नहीं होता।

६. नाम कर्म का बंध पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

७. गोत्र कर्म का बंध पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

८. अंतराय कर्म का बंध पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

४. गुणस्थानों में उदय –

१. तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही होता है।

२. आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का उदय छठवें गुणस्थान में ही होता है।

३. सम्यग्मिथ्यात्व का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है।

४. सम्यक्प्रकृति का उदय चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यंत ही होता है।

५. चौथे गुणस्थान में चारों आनुपूर्वी का उदय होता है।

६. पहला गुणस्थान एक मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी के उदय से होता है।

७. दूसरा गुणस्थान अनन्तानुबंधी के उदय से होता है।

८. तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से होता है।

९. चौथा गुणस्थान सात कर्मों के अर्थात् दर्शनमोहनीय ३, चारित्रमोहनीय ४ प्रकृति के उपशम, क्षय या क्षयोपशम (एक सम्यग्प्रकृति के उदय) से होता है।

१०. पाँचवाँ गुणस्थान चारित्र मोहनीय की १७ प्रकृति के उदय से होता है। (प्रत्याख्यानावरण-४, संज्वलन-४, और नौ नोकषाय)।
११. छठवाँ गुणस्थान संज्वलन व नौ नोकषायों के तीव्र उदय से होता है।
१२. सातवाँ गुणस्थान संज्वलन और नौ नोकषायों के मंद उदय से होता है।
१३. आठवाँ गुणस्थान संज्वलन और नौ नोकषायों के मंदतर उदय से होता है।
१४. नौवाँ गुणस्थान संज्वलन व नौ नोकषायों के मंदतम उदय से होता है।
१५. दसवाँ गुणस्थान संज्वलन सूक्ष्म लोभ के उदय से होता है।
१६. ग्यारहवाँ गुणस्थान मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम से होता है।
१७. बारहवाँ गुणस्थान मोहनीय कर्म के पूर्ण क्षय से होता है।
१८. तेरहवाँ गुणस्थान घाति कर्मों के पूर्ण क्षय से होता है।
१९. चौदहवाँ गुणस्थान योग के अभाव की अपेक्षा होता है।

५. गुणस्थानों में मूलकर्मों का उदय –

१. ज्ञानावरण कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
२. दर्शनावरण कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
३. वेदनीय कर्म का उदय पहले से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
४. मोहनीय कर्म का उदय पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
५. आयु कर्म का उदय पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
६. नाम कर्म का उदय पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
७. गोत्र कर्म का उदय पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
८. अंतराय कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

६. गुणस्थानों में मूलकर्मों का सत्त्व –

१. ज्ञानावरण कर्म का पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
२. दर्शनावरण कर्म का पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व रहता है।
३. वेदनीय कर्म का पहले से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
४. मोहनीय कर्म का पहले से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
५. आयु कर्म का पहले से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
६. नामकर्म का पहले से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
७. गोत्रकर्म का पहले से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है।
८. अंतराय का पहले से बारहवें गुणस्थान पर्यंत सत्त्व पाया जाता है। ❁

परिशिष्ट –३

गुणस्थानों में शुद्ध परिणति

शुद्ध परिणति की परिभाषा निम्नप्रकार है –

१. आत्मा के चारित्रगुण की शुद्ध पर्याय अर्थात् वीतराग परिणाम को शुद्ध परिणति कहते हैं।
२. कषाय के अनुदय से व्यक्त वीतराग अवस्था को शुद्ध परिणति कहते हैं।
३. जबतक साधक आत्मा की वीतरागता पूर्ण नहीं होती, तबतक साधक आत्मा में शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के साथ कषाय के अनुदयपूर्वक जो शुद्धता अर्थात् वीतरागता सदैव बनी रहती है; उसे शुद्ध परिणति कहते हैं।

जैसे –

१. चौथे और पाँचवें गुणस्थान में जब साधक, बुद्धिपूर्वक शुभोपयोग या अशुभोपयोग में संलग्न रहते है; तब कषाय के अभावरूप इस शुद्ध परिणति के कारण ही वे जीव धार्मिक बने रहते हैं।

२. छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी मुनिराज को भी शुद्ध परिणति नियम से रहती है। इस शुद्ध परिणति के कारण ही यथायोग्य कर्मों का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी निरंतर होती रहती है।

शुद्ध परिणति अनेक स्थान पर निम्न प्रकार रह सकती है –

(१) **चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में** – मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी एक ही कषाय चौकड़ी के अनुदयरूप अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता से जघन्य शुद्ध परिणति सतत बनी रहती है। इसी कारण युद्धादि अशुभोपयोग में संलग्न श्रावक को भी यथायोग्य संवर-निर्जरा होते हैं।

(२) **पाँचवें देशविरत गुणस्थान में** – अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण –इन दो कषाय चौकड़ी के अनुदयरूप अभावपूर्वक व्यक्त विशेष वीतरागता के कारण मध्यम शुद्ध परिणति सतत बनी रहती है। इसलिए दुकान-मकानादि अथवा घर के सदस्यों की व्यवस्थारूप अशुभोपयोग में समय बिताते हुए व्रती श्रावक को भी यथायोग्य संवर-निर्जरा होते हैं।

(३) **छठवें-प्रमत्तविरत गुणस्थान में** – अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी

के अनुदयरूप अभाव से व्यक्त वीतरागता के कारण उत्पन्न शुद्धपरिणति शुभोपयोग के साथ सदा बनी रहती है, इसकारण संवर-निर्जरा भी होती रहती है। इसी कारण अप्रमत्तविरत मुनिराज के समान ही प्रमत्तविरत मुनिराज भी भावलिंगी संत ही है।

(४) **सातवें-अप्रमत्तविरत गुणस्थान से** लेकर नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर्यंत के सभी भावलिंगी महामुनिराजों को तीन कषाय चौकड़ी (यथासंभव संज्वलन कषाय एवं नौ नोकषाय) के अनुदयरूप अभाव से व्यक्त वीतरागरूप शुद्धोपयोग सदा बना रहता है।

चौथे से छठवें गुणस्थान पर्यंत विद्यमान साधक को शुभ या अशुभरूप (छठवें गुणस्थान में कदाचित् अशुभोपयोग होता है।) उपयोग रहता है, तब व्यक्त शुद्धता सतत बनी रहती है; उसे ही शुद्धपरिणति कहते हैं। जब उपयोग निज शुद्धात्मा में लीन हो जाता है, तब वही व्यक्त शुद्धता अर्थात् वीतरागता वृद्धिंगत हो जाती है; उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। **व्यापाररूप शुद्धता शुद्धोपयोग कहलाती है और सहज निर्विकल्प शुद्धता शुद्धपरिणति कहलाती है।**

(५) **दसवें-सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में** - तीन कषायचौकड़ी और संज्वलन क्रोध, मान, माया कषायों एवं नौ नोकषायों के उपशम या क्षयरूप अभाव से उत्पन्न विशेष वीतरागतारूप (संज्वलन सूक्ष्म लोभ कषाय कर्म के सद्भाव में) शुद्धोपयोग एक अंतर्मुहूर्त पर्यंत रहता है।

उपयोग (ज्ञान-दर्शन) के साथ चारित्र गुण की शुद्धता अर्थात् वीतरागता को शुद्धोपयोग कहते हैं और सामान्य शुद्धता अर्थात् वीतरागता को शुद्ध परिणति कहते हैं। सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत शुद्धपरिणति ही शुद्धोपयोगरूप परिवर्तित हो जाती है।

(६) **ग्यारहवें-उपशांत मोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में** भी वीतरागता की पूर्णता हो गयी है। अतः इन दोनों गुणस्थानों में उपयोग एवं परिणति ऐसा भेद नहीं रहता। पूर्ण वीतरागता के कारण शुद्धोपयोग पूर्ण हो गया है। (मुनि भूमिका के शुद्ध परिणति विषयक स्पष्टीकरण प्रवचनसार शास्त्र की चरणानुयोग चूलिका के निम्न गाथाओं की टीका में पुनः पुनः आया है; उसे जिज्ञासु पाठक जरूर देखें। **(गाथा २४६, २४७ व २४९ से २५४ आदि।)**

(७) तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में अनंत दर्शन-ज्ञानादि चतुष्टयरूप परिणमन का कार्य शुद्धोपयोग का फल है। ❃

परिशिष्ट -४

घातिकर्मों के क्षय का विवरण

कर्मों के क्षय का प्रारम्भ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय से ही हो जाता है। तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली अथवा श्रुतकेवली के सान्निध्य में ही कर्मभूमिज मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्ति का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है।

१. सर्वप्रथम अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों से अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विसंयोजन द्वारा अभाव हो जाता है।

२. पश्चात् यह जीव एक अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत विश्राम लेता है। तदनंतर पुनः अधःकरणादि तीन करण परिणामों से मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व कर्मरूप परिणमित हो जाता है। फिर सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमित हो जाता है। तदनंतर क्रम से सम्यक् प्रकृति कर्म का उदय में आकर क्षय हो जाता है। इस तरह दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्व घातक सात प्रकृतियों का क्षय होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व का उपर्युक्त अभूतपूर्व कार्य चौथे अविरत-सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यंत किसी भी एक गुणस्थान में त्रिकाल सहजशुद्ध निजभगवान आत्मा के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होता है।

इस विषय का स्पष्ट खुलासा मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में पृष्ठ ३३४, ३३५ पर आया है, उसे नीचे दे रहे हैं -

इतना विशेष है कि क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्तकालमात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है, वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय की काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है - ऐसा जानना।

तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्वही का नाम वेदकसम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूप में भेद नहीं है। तथा वह क्षयोपशमसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

इसप्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

तथा तीनों प्रकृतियों के सर्वथा सर्व निषेकों का नाश होने पर अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान हो, सो क्षायिकसम्यक्त्व है। सो चतुर्थादि चार गुणस्थानों में कहीं क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को इसकी प्राप्ति होती है।

कैसे होती है ? सो कहते हैं – प्रथम तीन करण द्वारा वहाँ मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे; – इसप्रकार मिथ्यात्व की सत्ता नाश करे। तथा मिश्रमोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्व मोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे – इसप्रकार मिश्र मोहनीय का नाश करे। तथा सम्यक्त्व मोहनीय के निषेक उदय में आकर खिरें, उसकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे स्थिति–काण्डकादि द्वारा घटाये। जहाँ अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहे तब कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि हो। तथा अनुक्रम से इन निषेकों का नाश करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होता है।

सो यह प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्वरूप रंजना के अभाव से वीतराग है; इसका नाश नहीं होता। जबसे उत्पन्न हो तबसे सिद्ध अवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है। इसप्रकार क्षायिकसम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

३. नववें क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कर्मप्रकृतियों का स्तिबुक संक्रमण होकर परमुख से अभाव हो जाता है। अर्थात् इन आठ घातिरूप पापप्रकृतियों का द्रव्य इनकी क्षपणा काल में समय–समय प्रति एक–एक फालिका संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ व पुरुषवेदरूप कर्म में संक्रमित हो–होकर दोनों कषाय चौकड़ियों का क्षय हो जाता है।

४. तदनन्तर इस क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही दर्शनावरण कर्म के निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि इन तीन कर्मों का क्षय हो जाता है।

५. पश्चात् नववें गुणस्थान में ही स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म का द्रव्य पुरुषवेद कर्म में संक्रमित हो जाता है। तत्पश्चात् पुरुषवेद तथा हास्यादि छह (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) – इन सातों कर्मों का संक्रमण संज्वलन क्रोध कषाय कर्मों में होता है। इसतरह नौ नोकषायों का क्षय हो जाता है।

अब चारित्रमोहनीय कर्मों में से मात्र संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों की ही सत्ता शेष रही है। उनके क्षय का क्रम निम्नानुसार है –

६. नौवें गुणस्थान में ही संज्वलन क्रोध कषाय कर्म का संक्रमण संज्वलन मान कषाय में होता है। तदनंतर संज्वलन मान कषाय का संक्रमण संज्वलन माया कषाय में हो जाता है। और अंत में संज्वलन माया कषाय का संक्रमण लोभ कषाय कर्म में हो जाने पर संज्वलन क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों का संक्रमण हो–होकर क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभ कषाय कर्म का संक्रमण नहीं होता है। संक्रमित होने के लिए यहाँ (नववें गुणस्थान के उपान्त्य समय में) अन्य चारित्रमोहनीय कर्म की सत्ता भी शेष नहीं रही है। चारित्रमोहनीय कर्म का संक्रमण अन्य सात कर्मों में भी नहीं होता है। अतः **संज्वलन लोभ कषाय कर्म का क्षय स्वमुख से ही होता है।**

पूर्वोक्त प्रकार नौवें क्षपक **अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही चारित्रमोहनीय कर्म की २० प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।**

७. दसवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मात्र संज्वलन लोभ कषाय कर्म सूक्ष्म लोभरूप से उदय में आ रहा है। बादर लोभ कषाय कर्म का सूक्ष्मकृष्टिकरण का कार्य नववें गुणस्थान में ही संपन्न हो गया था। **दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में** सूक्ष्म लोभ कषाय का भी क्षय हो जाता है।

८. अब बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मोहकर्म तथा मोहपरिणामों के सर्वथा अभाव से मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये हैं। अब मोहनीय कर्म के बिना मात्र तीन घाति कर्मों की सत्ता शेष है। दर्शनावरण के नौ कर्मों में से छह कर्म ही शेष हैं। उनमें से निद्रा और प्रचला–इन दो कर्मों का **बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय** में क्षय हो जाता है।

९. **क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में** ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरणादि ४ प्रकृतियाँ और अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ – कुल मिलाकर १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

इसतरह घाति कर्मों के क्षपणा/क्षय का विवरण पूर्ण हुआ। ❃

परिशिष्ट –५

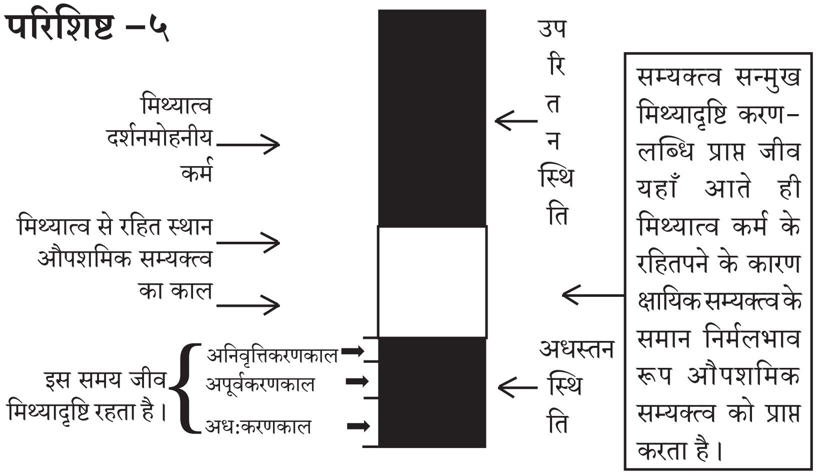

औपशमिक सम्यक्त्व

यह बड़ी रेखा मिथ्यात्व कर्म की है। बीच में पोल अर्थात् खाली जगह मिथ्यात्व कर्म के उदय से रहित दिखाई गई है। इस स्थान में भी पहले मिथ्यात्व कर्म की सत्ता थी। जबसे सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि करणलब्धि प्राप्त जीव अधःकरण, अपूर्वकरण परिणामों से आवश्यक कार्य करता है। पश्चात् अनिवृत्तिकरण परिणाम के कुछ काल व्यतीत होने के बाद मिथ्यात्व कर्म के कुछ निषेक प्रतिसमय दीर्घ काल के बाद उदय आने योग्य मिथ्यात्व के उपरितन स्थिति में जाते रहते हैं और कुछ निषेक अधस्तन स्थिति में जाकर मिल जाते हैं। यह क्रम अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यंत चलता रहता है। इतनी अवधि में/अंतर्मुहूर्त काल में मिथ्यात्व कर्म का उदय आते रहने से अधस्तन स्थिति के मिथ्यात्व कर्म, उदय में आकर मिल जाते हैं और जीव मिथ्यात्व कर्म से रहित स्थान में पहुँचता है। तथा वहाँ मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होने से एवं श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप पर्याय प्रगट होने के कारण क्षायिक सम्यक्त्व के समान यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

● सादि मिथ्यादृष्टि हो तो अनंतानुबंधी के ४ एवं दर्शनमोहनीय के ३–

कर्म कुल मिलाकर ७ कर्मों का उपशम करता है। ●अनादि मिथ्यादृष्टि हो तो अनंतानुबंधी की ४ और मिथ्यात्व १–कुल ५कर्मों का उपशम करता है। कदाचित् सादि मिथ्यादृष्टि भी ५, ६ या ७ का उपशम करता है। ●औपशमिक सम्यक्त्व के उत्पत्ति के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व कर्म के १. मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व ३. सम्यग्प्रकृति – ऐसे ३ टुकड़े हो जाते हैं। ●औपशमिक सम्यक्त्व की प्रथम उत्पत्ति चौथे, पाँचवें अथवा सातवें गुणस्थान में से किसी भी एक गुणस्थान में होती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र पृष्ठ २६४ का निम्न कथन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है –

''इसप्रकार अपूर्वकरण होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरण के भी संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल जाने के बाद अन्तरकरण करता है, जो अनिवृत्तिकरण के काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्वकर्म के मुहूर्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है; उन परमाणुओं को अन्य स्थितिरूप परिणमित करता है। तथा अन्तरकरण करने के पश्चात् उपशमकरण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये निषेकों के ऊपरवाले जो मिथ्यात्व के निषेक हैं, उनको उदय आने के अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय के अनन्तर जिन निषेकों का अभाव किया था, उनका काल आये, तब निषेकों के बिना उदय किसका आयेगा ? इसलिये मिथ्यात्व का उदय न होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय की सत्ता नहीं है, इसलिये वह एक मिथ्यात्वकर्म का ही उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा **कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है।**''

''कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है'' – इस उपरोक्त वाक्यांश से प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव नियम से मिथ्यात्व में जाने का नियम नहीं है; यह विषय स्पष्ट होता है। ❁

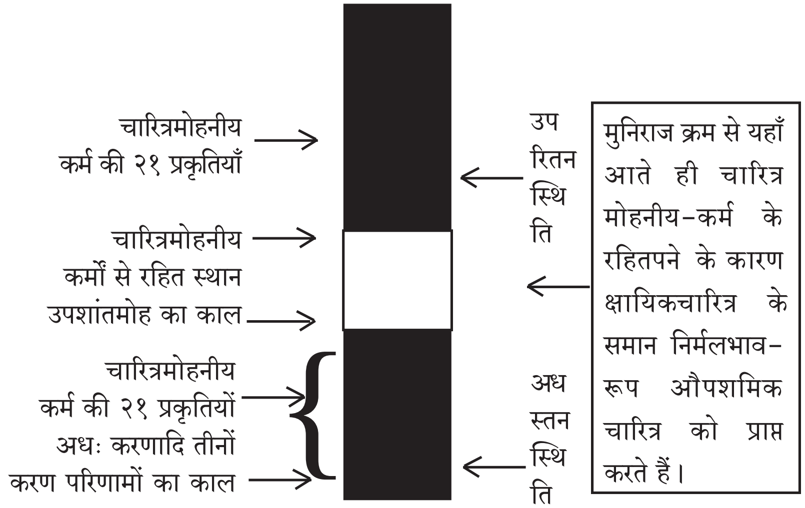

औपशमिक चारित्र

ऊपर दिखाई गयी बड़ी रेखा चारित्रमोहनीय के २१ कर्मों की है। बीच में पोल अर्थात् खाली जगह चारित्रमोहनीय की २१ कर्मों से रहित दिखाई है। इस स्थान में भी पहले चारित्र मोहनीय की २१ कर्म प्रकृतियाँ थीं। जब से द्वितीयोपशमी या क्षायिकसम्यक्त्वी मुनिराज ने उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश किया, तब से अर्थात् अनिवृत्ति के पहले समय से चारित्र मोहनीय २१ कर्मों के कुछ निषेक प्रतिसमय दीर्घ काल के बाद उदय आने योग्य उपरितन स्थिति में (सत्ता में पड़े हुये कर्मों में) जाते रहते हैं। कुछ निषेक अधस्तन स्थिति के कर्मों में जाकर मिल जाते हैं।

यह क्रम नववें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत चलता रहता है। इतनी अवधि में (अंतमुहूर्त काल में) चारित्रमोहनीय का उदय आते-आते अधस्तन स्थिति के कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं और मुनिराज चारित्रमोहनीय कर्मों से रहित स्थान में पहुँचते हैं। और मुनिराजों को ग्यारहवाँ उपशांत मोह गुणस्थान प्राप्त होता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के २१ भेद - अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४. प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४. संज्वलन क्रोधादि ४ और हास्यादि नौ नोकषाय, ४+४+४+९=२१।

गुणस्थानों से गमन

मिथ्या मारग चारि, तीनि चउ पाँच सात भनि।
दुतिय एक मिथ्यात, तृतीय चौथा पहला गनि।।१।।
अव्रत मारग पाँच, तीनि दो एक सात पन।
पंचम पंच सुसात, चार तिय दोय एक भन।।२।।
छट्ठे षट् इक पंचम अधिक, सात आठ नव दस सुनो।
तिय अध उरध चौथे मरन, ग्यारह बार बिन दो मुनो।।३।।

– पण्डित द्यानतरायजी : चरचा शतक, छन्द-४४

इस छन्द का हिन्दी में भावार्थ इसप्रकार है –

१. **पहले गुणस्थान से** ऊपर गमन के चार मार्ग हैं – तीसरे, चौथे, पाँचवें और सातवें में।
२. **सासादन गुणस्थान से** नीचे की ओर गमन का एक ही मार्ग है; पहले गुणस्थान में।
३. **तीसरे मिश्र गुणस्थान से** गमन के लिए कुल दो मार्ग हैं; ऊपर की ओर चौथे में तथा नीचे की ओर पहले में।
४. **चौथे गुणस्थान से** गमन के पाँच मार्ग हैं – ऊपर की ओर पाँचवें और सातवें में और नीचे की ओर तीसरे, दूसरे और पहले में।
५. **पाँचवें गुणस्थान से** भी पाँच मार्ग हैं – ऊपर की ओर सातवें में तथा नीचे की ओर चौथे, तीसरे, दूसरे और पहले में।
६. **छठवें गुणस्थान से** छह मार्ग हैं – ऊपर की ओर सातवें में तथा नीचे की ओर पाँचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे और पहले गुणस्थान में।
७. उपशम श्रेणी के सन्मुख **सातवें से** तीन मार्ग हैं – ऊपर की ओर आठवें में, गिरते समय नीचे की ओर छठवें में और मरण हो जाय तो विग्रह गति में चौथे में।
८. उपशम श्रेणीवाले **आठवें से** तीन मार्ग हैं – ऊपर की ओर नौवें में तथा नीचे की ओर सातवें में और मरण अपेक्षा चौथे में।
९. उपशम श्रेणीवाले **नौवें से** तीन मार्ग हैं – ऊपर की ओर दसवें में तथा नीचे की ओर आठवें में और मरण अपेक्षा चौथे में।
१०. उपशम श्रेणीवाले **दसवें से** तीन मार्ग हैं – ऊपर की ओर ग्यारहवें में तथा नीचे की ओर नौवें में और मरण अपेक्षा चौथे में।
११. **ग्यारहवें से** दो ही मार्ग हैं – नीचे की ओर दसवें में और मरण अपेक्षा चौथे में।

करणानुयोग के व्याख्यान का विधान

तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती; तथापि सूक्ष्मशक्ति के सद्भाव से उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे – मुनि के अब्रह्म कार्य कुछ नहीं है; तथापि नौवें गुणस्थान पर्यन्त मैथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रों के दुःख का कारण व्यक्त नहीं है; तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिक धर्म का निरूपण कर्मप्रकृतियों के उपशमादिक की अपेक्षासहित सूक्ष्मशक्ति जैसे पायी जाती है वैसे गुणस्थानादि में निरूपण करता है व सम्यग्दर्शनादि के विषयभूत जीवादिकों का भी निरूपण सूक्ष्मभेदादि सहित करता है।

यहाँ कोई करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता; करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बतलाने का मुख्य प्रयोजन है, आचरण कराने की मुख्यता नहीं है।

इसलिये यह तो चरणानुयोगादिक के अनुसार प्रवर्तन करे, उससे जो कार्य होना है वह स्वयमेव ही होता है। जैसे – आप कर्मों के उपशमादि करना चाहे तो कैसे होंगे ? **आप तो तत्त्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे; उससे ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।**

एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है और चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। सो ऐसे सम्यक्त्वादि के सूक्ष्मभाव बुद्धिगोचर नहीं होते। इसलिये करणानुयोग के अनुसार जैसे का तैसा जान तो लें, परन्तु प्रवृत्ति बुद्धिगोचर जैसे भला हो वैसी करे।

तथा करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसीप्रकार नहीं मानना। जैसे – हिंसादिक के उपाय को कुमतिज्ञान कहा है, अन्य मतादिक के शास्त्राभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा है; बुरा दिखे, भला न दिखे, उसे विभंगज्ञान कहा है; सो इनको छोड़ने के अर्थ उपदेश द्वारा ऐसा कहा है। तारतम्य से मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान कुज्ञान हैं, सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सुज्ञान हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २७६**

पाँच कारणों से सम्यक्त्व का विनाश होता है (दोहा)

ग्यान-गरव मति मंदता, निठुर वचन उदगार।
रुद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार।।३७।।

अर्थ :– ज्ञान का अभिमान, बुद्धि की हीनता, निर्दय वचनों का भाषण, क्रोध परिणाम और प्रमाद ये पाँच सम्यक्त्व के घातक हैं।

श्रावक के इक्कीस गुण (सवैया इकतीसा)

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत,
परदोष कौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबकौं इष्ट,
शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है।।
विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य,
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनीत पापक्रिया सौं अतीत ऐसौ,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है।।५४।।

अर्थ :– लज्जा, दया, मंदकषाय, श्रद्धा, दूसरों के दोष ढाँकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्य पक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेषज्ञानी, शास्त्रज्ञान की मर्मज्ञता, कृतज्ञता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी-मध्य व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरण से रहित – ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकों को ग्रहण करना चाहिये।

उपशमश्रेणी की अपेक्षा गुणस्थानों का काल (दोहा)

षट सातैं आठैं नवैं, दस एकादस थान।
अंतरमुहूरत एक वा, एक समै थिति जान।।१०३।।

अर्थ :– उपशम श्रेणी की अपेक्षा छठवें, सातवें, आठवें, नववें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त वा जघन्य काल एक समय है।।

क्षपकश्रेणी में गुणस्थानों का काल (दोहा)

छपकश्रेनि आठैं नवैं, दस अर वलि बार।
थिति उत्कृष्ट जघन्य भी, अंतरमुहूर्त काल।।१०४।।

अर्थ :–क्षपकश्रेणी में आठवें, नववें, दसवें और बारहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त है।

– समयसार नाटक (गुणस्थानाधिकार)

जिनेन्द्रकथित शास्त्राभ्यास से लाभ

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना)

१. माया, मिथ्यात्व, निदान – इन तीन शल्यों का ज्ञानाभ्यास से नाश होता है।
२. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
३. अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
४. शास्त्राभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
५. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
६. जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
७. जिनधर्म की प्रभावना होती है।
८. कषायों का अभाव हो जाता है।
९. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है।
१०. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
११. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१२. शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१३. भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१४. ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट होते हैं।
१५. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१६. दुःखित जीव को सदा ज्ञान ही शरण अर्थात् आधार है।
१७. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१८. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
१९. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान बढ़ता जाता है।
२०. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२१. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।